राजस्थान साहित्य अकादमी के आंशिक आर्थिक सहयोग से प्रकाशित

सृजन के विविध आयाम

[निबन्ध संग्रह]

डॉ० जयसिंह नीरज

□

कविता प्रकाशन, अलवर (राजस्थान)

सृजन के विविध आयाम

[निबन्ध संग्रह]

कृति स्वाम्य	:	*डॉ० जयसिंह नीरज*
प्रथम संस्करण	:	१९८३
मूल्य	:	२५-००
प्रकाशक	:	कविता प्रकाशन *८८, आर्य नगर* अलवर (राज०)
रेखाकन	:	डॉ० प्रेमचन्द्र गोस्वामी
मुद्रक	:	च्यवन भार्गव भार्गव प्रिन्टर्स दारूकूटा, अलवर (राज०)

"SIRJAN KE VIVIDH AYAM"
Dr. Jai Singh Neeraj
First Edition-1983
Price-25-00

क्रम

□

—●—

आदरणीय ठा० नारायणसिंह काकाजी
को सादर समर्पित

पूर्व कथन

निबन्ध आलेखों का यह संकलन बहुआयामी परिदृश्य के कारण कुछ नया अहसास देगा ऐसी मेरी धारणा है । कलाओं का पारस्परिक संबंध तथा अन्तरअनुशासन भावाभिव्यक्ति को ही विस्तार नही देता, वरन् पाठक, दर्शक और श्रोता के लिए भी नया ससार उद्घाटित करता है ।

रचनाकार की कलाओ के प्रति जिज्ञासा और पिपासा उसकी अभिव्यक्ति को रूप-रस, गंध, स्पर्श से आप्लावित कर देती है । इस प्रकार उसकी रचना विविध रंगों मे सद्यस्नान कर पाठक के सामने आती है । उसका रचनात्मक वैविध्य कलाओं की अन्तर पैठ के कारण ही उजागर हो पाता है ।

मध्यकाल मे साहित्य, कला, संगीत, मूर्ति तथा स्थापत्य का बेजोड़ अन्तरअनुशासन द्रष्ठव्य है । धर्म और दरबारी संस्कृति केन्द्र बिन्दु थे, जिसके चारो ओर कलाओं का जमघट अपने पारस्पारिक संबंधो का इज़हार करता रहा । लोक संस्कृति तथा जन जीवन मंदिरों मे और दरबारी संस्कृति गुणीजन खानो मे परिपोषित हुई । काव्य, संगीत, चित्रकला का आपसी सबध उस सस्कृति की अमर धरोहर है । काव्य को आधार बनाकर चित्र बनाए जाते रहे हैं और राग-रागिनियों का चित्रण तथा पदों का ध्रुवपद और धम्मार शैली मे गायन ने इन कलाओं को एक दूसरे से इतना जोड़ दिया है कि दूसरी कला को जाने बिना उस काल का अध्ययन अधूरा और एकांगी है ।

आज का युग वैशिष्टिय (Specilisation) का युग है, पर आज भी कलाओ के अन्तरअनुशासन को भुलाया नही जा सकता । जो रचनाकार, कलाकार, सगीतकार एक दूसरी कला से अनभिज्ञ रहते हैं या नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उनका अभिव्यक्ति संसार भी उतना ही सीमित और एकांगी हो जाता है ।

सन् ६० से काव्य और चित्रकला के पारस्पारिक संबंधों पर शोध-कार्य करने का मुझे अवसर मिला । "राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण-काव्य" जिसकी उपलब्धि रही । उसी क्रम मे समय-समय पर लिखे गये निबन्धों-लेखो का यह सकलन आपके हाथों में सौंपते हुए मैं प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ । राजस्थान साहित्य अकादमी के आर्थिक सहयोग से यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है, अतः मैं अकादमी का आभार प्रकट करता हूँ । भाई भागीरथ भार्गव ने इसके प्रस्तुतीकरण मे जो परिश्रम किया है उसके लिए धन्यवाद ज्ञापन करना औपचारिकता होगी ।

जयसिंह नीरज

वंसत-पंचमी, १९८३ ७ ढ़ २६, जवाहर नगर, जयपुर

कला की त्रिवेणी

कला सौन्दर्य का सृजन करती है, इसलिए सुन्दरता का मूर्त और अमूर्त स्वरुप कला में विद्यमान होता है। सौन्दर्य के प्रतिमान देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहे हैं, अतः कला का स्वरस भी समय-समय पर देश, काल के अनुसार बदलता रहा है। मनुष्य ने जब से अपनी वाणी या कृति से अपने साथियों को मुग्ध या विस्मित करने का प्रयत्न किया है तभी से उसका संबंध कला से जुड़ गया है। दृश्य या अदृश्य स्थूल या सूक्ष्म, वस्तु या भाव से संबंधित सौन्दर्यानुभूति साकार होकर मनुष्य के सामने व्यक्त रूप में प्रकट होती है, उस समय वह अभिव्यंजना 'कला' कहलाती है। कला काल्पनिक सौन्दर्य को भी अभिव्यक्त करके मनुष्य के अन्तर की सौन्दर्य-निधि को प्रत्यक्ष कर देती है।

कला के संबंध में पूर्व और पश्चिम के विद्वानों में सैद्धान्तिक रुप से कोई अधिक भेद नहीं जान पड़ता। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार कला शब्द अपने अनेकार्थों में प्रयुक्त होने के उपरान्त भी चतुर्थ-कर्म और कौशलपूर्ण अभिव्यक्ति के अभिप्राय से वंचित नहीं हुआ। समय-समय पर विद्वानों एवं कला मर्मज्ञों ने कला को जिस प्रकार परिभाषित किया है, उसमें प्राय ललित कला ही ध्वनित होती है। महान दार्शनिक प्लेटो के कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति सुन्दर वस्तु को अपना प्रेमास्पद चुनता है, अत कला का प्राण सौन्दर्य है। उन्होंने कला को सत्य की अनुकृति की अनुकृति माना है, अरस्तू उसे अनुकरण कहते है। हीगेल ने कला को आधिभौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम माना है। क्रोचे की दृष्टि से कला बाह्य प्रभाव की अभिव्यक्ति है। टॉलसटाय की दृष्टि में क्रिया, रेखा, रंग, ध्वनि, शब्द आदि के द्वारा भावों की वह अभिव्यक्ति है जो श्रोता, दर्शक और पाठक के मन में भी वही भाव जाग्रत कर दे 'कला' है। टैगोर के अनुसार मनुष्य कला के माध्यम से अपने अन्तर की अभिव्यक्ति करता है। फ्रायड ने कला को मानव की दमित वासनाओं का उभार माना है। प्रसाद ने कला को ईश्वर की कर्तृत्व-शक्ति का मानव द्वारा शारीरिक तथा मानसिक कौशलपूर्ण निर्माण माना है। संक्षेप में कला शिवत्व की उपलब्धि के लिए सत्य की सुन्दर अभिव्यक्ति है। कला का सामान्य अर्थ ही सौन्दर्य की रचना है। रुप ही सौन्दर्य है, अतः अपनी कल्पना के योगदान से रूप की रचना कर कलाकार युगों से समाज को कलात्मक विशिष्ट दाय देता रहा है।

क्रोचे ने कला को अविभाज्य मानते हुए उसे एक अखण्ड अभिव्यक्ति कहा है, किन्तु फिर भी पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने कला का वर्गीकरण किया है। भारतीय

विचारकों ने ६४ कलाओं का विवेचन किया है। हमारे यहां कला के अन्तर्गत सामान्यतः उपयोगी और ललित दोनों प्रकार की कलाएं परिगणित रही हैं। कठिनाई वहां हुई है जहाँ काव्य को कला अन्तर्गत न मानकर विद्या माना है। आचार्य शुक्ल और प्रसाद तक ने काव्य को कला मानने से इन्कार किया है।

ग्रीस में पांचवीं शती ईसा पूर्व से ललित कलाओं और उपयोगी कलाओं में भेद स्वीकार किया जाने लगा था। प्लेटो व अरस्तू ने इस को 'पुनः प्रस्तुति' (रिप्रेजेन्टेशन) के आधार पर स्वीकारा है। उपयोगी कलाओं में लुहार, कुम्हार, बढ़ई आदि का ध्यान वस्तु की पुनः प्रस्तुति पर केन्द्रित न होकर उपयोगिता पर अधिक रहता है, जबकि ललित कलाओं में भाव या वस्तु को शब्द, रंग, रेखा आदि के माध्यम से पुनः प्रस्तुत कर सुन्दर बनाया जाता है। यही कारण है कि ललित कलाओं में काव्य, संगीत, चित्र-कला, मूर्तिकला और वास्तुकला को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

हीगेल ने विकास क्रम के आधार पर कला को तीन वर्गों में रखा है। १. प्रतीक-वादी अर्थात वास्तुकला २. शास्त्रीय अर्थात मूर्तिकला और ३. रोमानी अर्थात काव्य संगीत और चित्रकला। *उसने समस्त ललित कलाओं को विचार (आईडिया) की* अभिव्यक्ति का माध्यम माना है। उसके अनुसार भाव या विचार को रुप में बदल देना ही कला का लक्ष्य है। इस दृष्टि से रोमानी कलाएँ अधिक शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण हैं। रोमानी कलाओं के माध्यम क्रमशः शब्द स्वर, रेखा और रंग कोमल होने के कारण, अभिव्यक्ति का विशेष सामर्थ्य रखते हैं। अमूर्त से अमूर्त भाव काव्य, संगीत एवं चित्रकला में अभिव्यक्ति पाता है। इस दृष्टि से माध्यम जितना ही अमूर्त या सूक्ष्म होगा, कला उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

उपर्युक्त रोमानी कलाओं में अत्याधिक पारस्परिक संबंध है, जिसके कारण एक दूसरी कला पारस्परिक प्रभाव ग्रहण करती रही है। मध्यकाल के इतिहास को देखने से पता चलता है कि काव्य संगीत और चित्रकला की त्रिवेणी के अन्योन्याश्रित संबंध ने जिस सांस्कृतिक परिवेश का निमार्ण किया है वह कला के इतिहास में बेजोड़ है। काव्य को संगीत और चित्र तत्व से विलग नहीं किया जा सकता और संगीत तथा चित्रकला को काव्य के आधार के बिना पोषण नहीं मिल सकता। संगीत संबंधी राग-रागिनियों का काव्य में प्रयोग एवं चित्रकला में उनके ध्यान का अंकन पारस्परिक संबंध को अधिक पुष्ट करता है।

काव्य एक प्रकार की कला है। कला का अर्थ है रुपात्मक सृजन। काव्य में शब्द के माध्यम से सौन्दर्य की रचना होती है। अर्थ और भाव से पूर्ण शब्द से ही काव्य का सृजन होता है। शब्द अपनी चित्रोपमता के कारण विचार या भाव का संकेत करता है। शब्द में स्थान दिक्, काल, सबके परे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य होती है। भावानुकूल शब्द नियोजन द्वारा कवि अनुभूत एवं काल्पनिक-भाव

तथा विचारों को सूक्ष्म अभिव्यजना करता है। अतः अनुभूति की सच्चाई को वहन करने वाली शब्दावली द्वारा विशेष शैली में रचित रस से परिपूर्ण वाक्य आज भी सशक्त काव्य परिभाषा के रूप में गृहीत हैं।

काव्य की अभिव्यक्ति में दो तत्व काम करते हैं एक नाद तत्व और दूसरा चित्र तत्व। संगीत और चित्रकला के ये तत्व काव्य के सृजन मे महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। संगीत और साहित्य की कलाएँ शब्द से सम्बन्धित है। शब्द का रूप श्रव्य है। शब्द की अर्थवत्ता काव्य को प्रभावशाली बनाती है किन्तु संगीत मे सार्थक शब्द की आवश्यकता हो ऐसा नही। सगीत का माध्यम नाद अर्थात् स्वर है। आचार्य भातखण्डे ने "हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति" में कहा है कि—

यो यं ध्वनि विशेष्स्तु स्वरवर्ण विभूषित.
रजको जनाचित्तानां स राग: कार्थतो बुधे ॥

नाद वह ध्वनि है जो शब्दार्थ से रहित होकर भी अपनी सहज कोमलता स्निग्धता तथा ओज से मानवता हृदय के भावों को उद्वेलित करने मे समर्थ है। यह नाद तत्व अपने निराकार स्वरूप मे इतना प्रभावशाली है कि पशु-पक्षी भी संगीत लहरी से आत्म-विभोर होकर सुध-बुध खो बैठते हैं। भक्त कवियो द्वारा रचित काव्य-संगीत रागरागिनी द्वारा रचित होने के कारण विशेषतया नाद तत्व से युक्त है। वैसे तो सारा हिन्दी-काव्य ही संगीतमय है, पर भक्त कवियों ने अष्टयाम की सेवा पूजा के निमित्त संगीत को अपना काव्य अर्पित किया है, उसमें काव्य और संगीत का सम्बन्ध अधिक अन्योन्याश्रित हो गया है। भक्त कवियों का ऐसा कोई पद नही है जो रागरागिनी मे बंधा हुआ न हो। स्वय भक्त कवि सूरदास ने छत्तीस राग-रागनियों की चर्चा अपने सूर सागर मे की है।

काव्य गत्यात्मक कला है। इसलिए छन्दोबद्ध काव्य सगीत के अधिक समीप होता है। यह नाद तत्व काव्य की गति ही नही देता, वरन् उसे अधिक प्रभावशाली और मनोहारी बनाता है। एक किसी विशेष लय मे गाया जाने वाला काव्य श्रोता पर अधिक प्रभाव डालता है। ऐसी स्थिति मे उसमे काव्य और संगीत दोनो का मिश्रित प्रभाव होता है। काव्य में अर्थ और भाव का आधिक्य होता है, जबकि सगीत मे स्वर साधना अधिक और शब्द योजना अल्प होती है। संगीतकार पद की एक पंक्ति को विस्तार देकर ख्याल गायकी की स्वर साधना को परिपूर्णता देता है। ध्रुवपद गायकी सगीत की ऐसी विधा है, जिसमे सम्पूर्ण पद को गाकर गायक राग का स्वरूप खड़ा करता है। इसलिए ध्रुवपद में काव्य और संगीत का बराबर योग-दान रहता है। संगीत स्वरो की अमूर्तता के कारण अधिक अमूर्त होता है वाद्य संगीत मे तो यह अमूर्तता शत प्रतिशत रहती है। आज हम काव्य से कविता की ओर बढते जा रहे हैं, इसलिए आज के मशीनयुग में- कविता लय, गति और छन्द

विहीन होकर भी आधुनिक बोध को व्यक्त करने में समर्थ है। धीरे-धीरे उसकी नाद तत्व अर्थात् संगीत से सम्बन्ध हटता जा रहा है।

कला संगम में चित्र तत्व का स्थान महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली है। यही कारण है कि दिक्, काल और स्थान से परे चित्रकला की भाषा सुबोध है। संसार के किसी भी समय के और कही के भी चित्र को देखकर उसकी अर्थवत्ता को समझा जा सकता है। चित्रकला की भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। 'चीयते इति चित्रम्' अर्थात चित्रकार बहिर्जगत और अन्तर्जगत के भावों का चयन करता है। शिल्प के षडंग इस चयन की प्रवृति को चित्र का रूप देने मे सहायक होते हैं। यशोधर पंडित ने ११वी १२वी शति मे कामसूत्र की टीका करते समय चित्रकला के षडंग की चर्चा इस प्रकार की है।

रूप भेद प्रमाणानि भाव लावण्ययोजनम् ।
सादृश्य वर्णिका भंग इति चित्र षडंगकम् ॥

रूप, भेद, प्रमाण, भाव, लावण्य योजना सादृश्य तथा वर्णिका भंग चित्र के छः अंग है जिनके द्वारा चित्रकार चित्र को रूप देता है। इस रूप के चयन मे माधुर्य, ओज, सजीवता होने पर ही चित्र शोभाशाली कहा जा सकता है। चित्र की शोभा के कारण ही प्राचीन भारत मे चित्रकला को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। चौसठ कलाओं मे चित्रकला को महत्व देते हुए कहा गया है कि —

कलानां प्रवरं चित्रम्, धर्म कामार्थ मोक्षदम् ।
मंगल्य प्रथमं चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात् कलाओ मे चित्रकला श्रेष्ठ है। यह धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष देने वाली है। जिस घर मे इसकी प्रतिष्ठा की जाती है वहाँ पहले ही मगल होता है।

चित्रकला का माध्यम रेखा और रंग है। किसी आधार भूत सतह पर रेखा और रंगो के द्वारा चित्रकार भावाभिव्यक्ति करता है। उसमें स्थापत्य व मूर्ति की भाँति स्पेस (स्पेश) का उपयोग आवश्यक है। पर माध्यम कोमल के कारण अभिव्यक्ति अधिक सशक्त हो जाती है। "किसी एक तल पर जो सम हो या खमदार, पानी, तेल अथवा अन्य माध्यम मे घोले अथवा सूखे एक व एकाधिक रंग की रेखा एवं रंगो भेजी द्वारा किसी रमणीय आकृति के अंकन को चित्रण कहते हैं और ऐसी प्रस्तुत वस्तु को चित्र। यह आधार भूत सतह मुख्यतः भित्ति, पत्थर, काठ, पकायी मिट्टी के पात्र वा फलक, हाथी दांत, चमडा, कपड़ा, ताडपात्र वा कागद होती है" चित्रकार की विशेषता यह है कि वह समथल धरातल पर ऊँचाइयां, गहराइया, दूरी और नैकट्य आदि दिखलाता है। उसमें कलाकार मानस चित्रो को रेखा और रंगों के माध्यम से अपने सामर्थ्यानुसार चाक्षुष चित्रों मे प्रस्तुत करता है। मूर्ति और स्थापत्य की भाँति चित्रकला भी चाक्षुष होने के कारण आँखो द्वारा मानसिक तृप्ति

प्रदान करती है, पर माध्यम की कोमलता के कारण चित्र मे मूर्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है।

चित्रकला का यह चित्र तत्व काव्य और संगीत की भावाभिव्यक्ति में सहायक होता है। काव्य का तो यह चित्र तत्व प्राण होता है। इस दृष्टि मे प्रत्येक कविता अपने आप मे भाव एवं विचारों की प्रतिमूर्ति है। शब्दों में चित्र निर्माण की शक्ति होती है। इस शक्ति के कारण उच्चरित शब्द श्रोता के मन में मानस चित्र उभरता है। काव्य के पठन या श्रवण से शब्द रग रेखादि मे संमूर्तता धारण कर मन मे गुंजार उत्पन्न करते है। यह गुंजार जितनी ही सजीव सतरंगी और चित्रोपम होगी, काव्य उतना ही मनोहारी होगा। कवि निराकार एव गहनतम अनुभूतियो को साकार बनाने के लिए चित्रभाषा का प्रयोग करता है। रूप, रस, गध, स्पर्श आदि का संमूर्तन काव्य को अत्यधिक उदात्त बना देता है। उपमान, प्रतीक योजना, बिंब विधान आदि के द्वारा कवि काव्य को चित्रमय और संवेदनशील बनाने में सफल होता है। यह सफलता ही काव्य की उत्कृष्टता है। पाठक अपने ज्ञान, अनुभूति कल्पना, जीवन दर्शन आदि से काव्यगत भावों को समझने का प्रयत्न करता है, पर चित्रकला की भाँति काव्य को ठोस चलचित्र की भाँति पाठक के मानस पट पर उद्बुद्ध होकर उसको रसान्वित करते हैं, इसलिए काव्य अधिक व्यापक, गम्भीर तथा सूक्षम भावों का अभिव्यंजक होने के साथ ही माध्यम की सूक्षमता और अमूर्तता के कारण अन्य कलाओं की अपेक्षा दुरूह, जटिल और अस्पष्ट भी हो जाता है।

संगीत मे राग रागिनियों के ध्यान की कल्पना ने भारतीय चित्रकला को एक महत्वपूर्ण चित्रण का विषय दिया। अमूर्त से अमूर्त भावों के चाक्षुष चित्र प्रस्तुत करना भारतीय समाज की विशेषता रही है। देवी-देवताओ के ध्यान की ही भाँति मध्यकाल मे रागरागनियो के स्वरूप का अंकन तत्कालीन चित्रकला की विशेषता है। छत्तीस रागरागनियों की माला का चित्रण राजस्थानी मुगल और पहाड़ी शैली में बहुलता से हुआ है, जिसके आधार पर संगीत और चित्रकला के पारस्परिक संबंध को समझा जा सकता है।

सच तो यह है कि मध्यकाल मे काव्य, संगीत और चित्रकला की त्रिवेणी का संगम जिस खूबी के साथ हुआ है वह बेजोड़ है। सांस्कृतिक धरोहर को प्रभावशाली बनाने मे उपयुक्त कलाओं का योगदान देखते ही बनता है। मध्यकालीन काव्य को समझने के लिए तत्कालीन चित्रकला और संगीत की जानकारी आवश्यक है और उस समय के चित्रकला तथा संगीत का रसास्वादन बिना काव्य की जानकारी के अपूर्ण है। वास्तव में तो कला की आत्मा एक है। अभिव्यक्ति के माध्यमो ने काव्य, संगीत और चित्रकला को पारिभाषिक दृष्टि से अलग भले ही कर दिया हो पर उनके मूल में भाव एक है। यह कलाएँ एक दूसरे की प्रेरक और सहायक ही नही वरन् पूरक भी है। कला की त्रिवेणी का यह रूप आल्हादकारी है। ☐

काव्य और चित्रकला

ललित कलाओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर समय-समय पर चर्चा होती रही है। कोमल माध्यम होने के कारण काव्य, संगीत और चित्रकला का सम्बन्ध और भी अन्तरंग हो जाता है। यही कारण है कि संसार भर के साहित्य, संगीत और चित्रण में एक दूसरे का प्रभाव प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में विद्यमान है।

काव्य में शब्द के माध्यम से सौन्दर्य की रचना होती है। इस संरचना में नाद तत्व और चित्रतत्व दोनों का पूर्ण सहयोग रहता है। इसलिये संगीत और चित्रकला काव्य रचना के प्रभाव क्षेत्र में रहते हैं।

काव्य और चित्रकला के पारस्परिक सम्बन्ध का महत्वपूर्ण कारण ही यह है कि सर्वप्रथम काव्य रचना करते समय या चित्रण करते समय कलाकार के मन में मानस चित्र उभरते हैं। यह आन्तरिक अखण्ड अभिव्यक्ति पृथक माध्यमों से व्यक्त होकर काव्य तथा चित्रकला का रूप धारण करती है। कवि अपने सृजन क्षणों में काव्य के प्राण "चित्रतत्व" को साथ लेकर चलता है, "क्योंकि प्रतिमा सर्वप्रथम बिंब के माध्यम से बोलती है" उपमान प्रतीक और बिंब विधान काव्य रचना के निर्णायक तत्व होते हैं।

काव्य का माध्यम शब्द स्वयं एक चित्र का आकार है। उसका विकास चित्र-लिपि से हुआ है। शब्दों की बनावट तथा सफाई पाठक के मस्तिष्क पर प्रभाव डालते हैं, जो चित्र देखने की प्राथमिकता प्रक्रिया से मेल खाता है। रिचर्डस महोदय ने इसे 'दि विजुअल सेन्सेशन ऑफ दि प्रिंटेड वर्डस" कहा है।' वास्तव में तो काव्य और चित्रकला में अभिव्यक्ति के माध्यम का अन्तर है, अन्यथा कला की आत्मा तो एक ही है। काव्य बोलता हुआ चित्र है और चित्र मूक काव्य (Poetry is a speaking Picture and Picture is a mute Poetry) प्रकृत कवि चित्र भाषा का प्रयोग करता है।

इस प्रकार काव्य और चित्रकला का सम्बन्ध अक्षुण्ण है। इस अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का ही कारण है कि भारतीय चित्रकला ने काव्यगत शब्द चित्रों को साकार कर दिया है। भारतवर्ष में साहित्य ने कला का रूप समृद्ध किया है और कला ने साहित्य की व्याख्या की है। भारतीय कला एक प्रकार से साहित्य की ही मार्मिक व्याख्या है। राजपूत पहाड़ी, मुगल चित्रकारों की प्रेरणा का श्रोत संस्कृत,

प्रपभ्रंश तथा हिन्दी साहित्य की मध्ययुगीन भक्ति और रीति विषय कृतिया रही है। यह कहना असंगत न होगा कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का अध्ययन बिना उस काल वाले चित्रों के अध्ययन के अधूरा और अपरिपक्व रहता है, क्योंकि जो लिखा जाता था, चित्रकार उसे अंकित करता था। इतना ही नही अनेक बार चित्रकार जो अंकित करता था, उसे कवि की वाणी कविता में अनूदित करती थी।

ग्रन्थ चित्रण की परम्परा :

ग्रन्थों के सुलेखन के साथ-साथ उन्हे चित्रों द्वारा सुसज्जित करने की परम्परा भारत मे प्राचीन काल से रही है, काव्य के भाव को शब्दों के साथ ही साथ रेखा और रंगो के द्वारा भी चित्रकारों ने अभिव्यक्त करने का प्रयत्न समय-समय पर किया है, इसलिये साहित्य की भाँति चित्र भी भोज पत्र, ताड़पत्र लकडी के फलक एवं कपड़ों और कागजो पर सुविधानुसार अंकित किये जाते रहे है। इस दृष्टि मे काव्य और चित्रकला का समन्वित स्वरूप ऐसे दृष्टान्त ग्रन्थों मे विशेष दृष्टव्य है।

आज संसार भर के संग्रहालयो, निजी संग्रहकर्त्ताओं तथा भारत के प्राचीन भण्डारों में ऐसी सचित्र पोथियाँ या उनके कुछेक पन्न और लघुचित्र उपलब्ध है, जो भोजपत्र ताडपत्र, लकडी के फलक, कपडे की फड और कागज पर समय-समय पर अंकित किये गये है। इन सचित्र ग्रंथो के विषय अधिकतर बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव तथा इस्लाम धर्म सम्बन्धी कथाओ से अधिक संबधित हैं।

रंगों और रेखाओं में काव्यांकन :

भारत में काव्य और चित्रकला के सम्बन्ध तथा पारस्परिक सहयोग का एक पुराना इतिहास है, द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से बने अजन्ता के भित्तिचित्र जातक कथाओं पर ही आधृत है, यह बात दूसरी है कि उन पर छदों का अंकन नहीं है। कथा की क्रमबद्धता को रग और रेखाओ मे अंकित कर कलाकारो ने भारतीय चित्र-कला का जो गौरव बढाया है, वह अविस्मरणीय है, अजंता की यह परम्परा ७ वी शती तक बनी गुफाओं मे उपलब्ध है, ये भित्तिचित्र काव्य चित्रण के परोक्ष उदाहरण कहे जा सकते है।

तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने ७वी शती मे मरुधर प्रदेश में जिस चित्र शैली का स्वरूप माना है, वह अजंता की परम्परा में ही पोषित हुई है। उसके अनुसार उस शैली मे अनेक दृष्टात चित्र बने, किन्तु आज वे उपलब्ध नही है, इसलिए उन सबके बारे मे कुछ कह पाना कठिन है। ९वी शती मे पूर्वी भारत में पाल शैली का उदय हुआ, जिसका प्रभाव नेपाल और तिब्बत तक ही रहा। इस शैली में प्रज्ञा पारमिता जैसे बौद्ध ग्रंथो के ही दृष्टात चित्र अधिकतर बने हैं। इस प्रकार के सचित्र ग्रंथो का निर्माण काल १० वी शती से १३ वी शती तक प्रमुख रूप से रहा है। ये पोथियाँ अधिकतर ताड़पत्र पर अंकित हैं, जिनमें सुन्दर लिपि, तराशे हुए

अक्षर और चमकीली स्याही का प्रयोग हुआ है। काठ की पट्टियों और रेशमी कपड़ों पर भी जातक कथाओं के आधार पर अनेक चित्र बने। ये सचित्र पोथियां मुख्यतया नेपाल के राजकीय पुस्तकालय तथा अमरीका के बोस्टन संग्रहालय में संग्रहीत हैं।

सचित्र ग्रथो के इतिहास मे गुजरात शैली, जैन शैली और अपभ्रंश शैली का योगदान विशेष महत्व का है। तीनों शैलियों के विकास, पारस्परिक योगदान तथा शैली की विशेषताओ के कारण कला जगत मे अनेक भ्रांतियां पैदा हुई है, किन्तु तीनो ही शैलियों ने सचित्र ग्रन्थो के चित्रण मे जो योगदान दिया है, वह बेजोड़ है। राजस्थानी चित्रकला के उद्भव और विकास मे उपर्युक्त शैलियो में अंकित सचित्र ग्रन्थो का विशेष योगदान है। पश्चिम भारत का यह भाग जहाँ उपर्युक्त शैलियां परिपोषित हुई हैं, ५ वी शती से १२ वी शती तक विशेष महत्व का रहा है। ८ वी से १० वी शती तक यह भाग 'गुर्जरत्रा' कहलाता था। यहाँ चित्रकला सचित्र ग्रन्थो के माध्यम से अधिक पल्लवित हुई।

उपलब्ध सचित्र पोथियो मे वि० स० १२१६ का भद्रबाहु स्वामी रचित 'कल्प सूत्र' भारतवर्ष के पश्चिमी भाग का प्राचीनतम कलात्मक ग्रन्थ है, जो ताड़पत्र पर बना है और जैन ग्रन्थ भडार, जैसलमेर मे सुरक्षित है। राजस्थान मे ताड़पत्र पर चित्रित प्रथम ग्रंथ 'सावगपडिकमण सुत चुन्नी' (श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णी) है जो सन् १२६० मे ग्रहाड (उदयपुर) मे गुहिल्ल तेजसिंह के राज्यकाल मे चित्रत हुआ।

कागज का आविष्कार और ग्रन्थ चित्रण का विकास :

वस्तुत. ग्रन्थो के निर्माण एवं चित्रण मे कागज के आविष्कार ने विशेष योग दिया। ताडपत्र एवं कपड़े को आधार बनाकर चित्रण एवं सुलेख करने मे बड़ी कठिनाई आती थी। कागज एक ऐसा माध्यम है, जिसमे काव्य तथा चित्र दोनों का अंकन आसानी और विस्तार से हो सकता है। १२ वी शति मे कागज के आविष्कार के कारण सचित्र ग्रन्थों की परम्परा ने इस क्षेत्र में तहलका मचा दिया। जैसलमेर के ग्रन्थ भडार मे वि० स० १२७७ का चित्रित 'उत्तराध्ययन सूत्र' एव सं० १२७६ का वाचस्पति मिश्र कृत 'न्याय तात्पर्य टीका' ग्रन्थ कागज पर ही अंकित है, जिनसे १२ वी शती मे भारत मे और प्रमुखतया राजस्थान मे कागज के उपयोग का पता चलता है।

इस प्रकार १२ वी शती से विशेषतया कागज पर और साथ ही ताड़पत्र पर ग्रन्थ चित्रण की परम्परा चालू रही। मोकल के शासनकाल में देवकुल पाटक (देलवाडा) में सन् १४२२-२३ में लिखित एवं चित्रित ग्रन्थ 'सुपासनाह चरियम्' (सुपार्श्वनाथ चरितम्' सचित्र ग्रन्थो की कड़ी मे महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसी प्रकार का सरस्वती भण्डार, उदयपुर का सन् १४२६ का 'कल्पसूत्र' भी उल्लेखनीय है। जिसके

चित्रण की वेशभूषा कुंभा के विजय स्तम्भ की मूर्तियों की वेशभूषा के अनुरूप है कहने का तात्पर्य यह है कि पश्चिमी भारत में जैन शैली, गुजरात शैली, अपभ्रंश शैली आदि मे जैन तीर्थंकारों की कलाओं को आधार बनाकर अनेक सचित्र ग्रन्थ तैयार किये गये, जिनमे 'कल्पसूत्र' का चित्रण विशेष उपलब्ध है।

ऐसी बात नही है कि जैनेतर ग्रंथों का चित्रण इस समय हुआ ही नहीं, वास्तव मे अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं, जो चित्रकला के इतिहास की दृष्टि से भी अत्याधिक महत्वपूर्ण हैं। लगभग सन् १४५० के आस-पास पश्चिमी भारत मे एक प्रति 'गीत गोविन्द' की और दो प्रतियां 'बालबोपाल स्तुति' की चित्रित की गयी, जो कृष्ण चरित्र संबंधी प्रथम उपलब्ध चित्रण है। सन् १४५१ मे अपभ्रंश शैली मे चित्रत 'वसन्त विलास' का प्रसिद्ध पटचित्र आचार्य रत्नगिरि द्वारा अहमदाबात मे लिखा गया, जो ४३६ इंच लम्बा ६'२ इंच चोड़ा तथा ७९ सुन्दर चित्रों से सुसज्जित खोल है। यह पटचित्र फ्रियर गैलरी ऑफ आर्ट वाशिंगटन मे सुरक्षित है। यह पटचित्र शृंगार प्रधान है और इसके सभी चित्र जैन धर्म के सिद्धांतों के विरुद्ध है।

सगुण भक्ति का उन्मेष और ग्रन्थ चित्रण में योग :

ग्रन्थ चित्रण की परम्परा को सगुण भक्ति के आंदोलन ने विशेष योग दिया। मूर्ति और चित्रों की पूजा के कारण भगवान के स्वरूप के अनेक चित्र बनाये जाने लगे तथा सगुण भक्ति के प्रमुख ग्रन्थों का सुलेखन और चित्रण भक्ति के आदोलक आचार्यों, भक्तो एवं कलाकारों ने लोक जीवन को नये उत्साह एव नयी प्रेरणा से भर दिया। विचारों की नवीन शक्ति पा कर कलाएँ रस की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी, जिसके कारण राम और कृष्ण की लीलाएँ काव्य और चित्रकला के माध्यम से साकार हो उठी। ग्रन्थ चित्रण का उपर्युक्त स्वरूप राजस्थानी और पहाड़ी चित्रकला में तो अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया। धार्मिक पाठों और राजा-महाराजाओं के दरबारों मे भारत की ग्रन्थ चित्रण की परम्परा का स्वरूप प्रस्फुटित हुआ, वह संसार भर के संग्रहालयो मे भरा पड़ा है। संस्कृत काव्य, सूफी काव्य, लोक काव्य, राम-काव्य, रीति ग्रन्थ, बारहमासा, ऋतु वर्णन, राग-रागिनी आदि से सम्बन्धित राजस्थानी और पहाड़ी शैली मे जो चित्र बने वे सचित्र ग्रन्थों के पारस्परिक विकास में महत्वपूर्ण कड़ी है।

राम और कृष्ण की लीलाएँ तथा लोककथाएँ चित्रकला का विशेष आधार बनी। सन् १५४० में चित्रित ४१७ चित्रों से सुसज्जित गुजराती शैली का ग्रन्थ 'आदि पुराण' चित्रकला के विकास में दीप स्तम्भ के समान है। अवधी काव्य मृगावती तथा लाहौर म्युजियम स्थित सचित्र 'लौरचंदा' भी इसी श्रेणी के ग्रन्थ हैं। प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई का 'गीत गोविन्द' तथा दूसरा 'भागवत सचित्र' सचित्र ग्रंथों के अनमोल उदाहरण हैं प्रथम भागवत पोथीखाना जयपुर मे संग्रहीत है, जो सन् १६५८ में

सूरदास की कलात्मकता

सूरदास हिन्दी साहित्य के ऐसे चितेरे कवि हैं जिन्होने अपने अन्तर्चक्षुओं द्वारा काव्य में कलाओं की त्रिवेणी बहा दी है। जितनी सहज काव्यात्मकता, सतरंगी चित्रोपमता और रागरागनियों की स्वर लहरी सूर के पदों मे देखने को मिलती है, उतनी हिन्दी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ ही है। सूर के पदों का अध्ययन एकांगी दृष्टि से हो ही नही सकता। वे संगीतकार है। शब्दो के चित्रकार हैं और काव्य को सहज अभिव्यक्ति के कारण उत्कृष्ट कवि हैं। उन्हे कवि मानें, गायक मानें या शब्दों का चितेरा मानें।

सूर सागर भक्त कवि सूरदास की ब्रज भाषा में रचित महत्वपूर्ण रचना है। वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षित सूरदास अष्टछाप के प्रमुख कवियो में से हैं। वल्लभाचार्यजी भागवत के जिन प्रकरणों की व्याख्या अपने कथा प्रसंगों में किया करते थे, उन्हीं भावों में अपनी मौलिकता का समावेश कर सूरदासजी पद रचना कर भगवान श्रीनाथजी के सम्मुख अष्टयाम की पूजा में उनका गायन किया करते थे।

सूर का वर्ण्य विषय कृष्ण का प्रिय एवं प्रेमी रूप रहा है, इसलिए कृष्ण के शील, शक्ति, सौन्दर्य गुणों में से उनका मन लीला बिहारी कृष्ण के सौन्दर्य पक्ष में ही अधिक रमा है। माधुर्य भाव की लीलाओं को आधार बनाकर सूरदासजी ने वात्सल्य एवं दाम्पत्यरति के असंख्य चित्र प्रस्तुत किये है। श्री कृष्ण की अलौकिक लीलाओं, बाल चेष्टाओं तथा राधा और गोपियो के संयोग-वियोग पक्ष के विशद निरूपण से सूरसागर ओतप्रोत है। सूरसागर भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से समूचे हिन्दी साहित्य के इतिहास मे बेजोड़ काव्यात्मक ग्रन्थ है।

सूरदासजी पुष्टि सम्प्रदाय मे दीक्षित ऐसे भक्त थे, जिन्होने अपना सब कुछ श्रीनाथजी के चरणो मे अर्पित कर दिया। मुख्यतः वे अष्टयाम की सेवापूजा में श्री कृष्णलीला के पद गायन करते थे, अतः कीर्तनकार के रूप मे उनका सर्वोपरि स्थान था। उन्होंने अपना गायन समयानुसार रागरागिनी बद्ध पदो के रूप मे किया। उनकी गीतात्मक शैली में संगीत के तीनो पक्ष अर्थात् गायन, वादन और नर्तन का समावेश है। उनके अनेक पदों मे संगीत की यह छटा दृष्टव्य है:—

नन्दनन्दन सुघराई, मोहन बंसी बजाई।
सारे, ग, म, प, ध, नि, सा में सप्त सुरनि गाई।

अतीत अनागत संगीत विच तान मिलाई ।
सुर, ताल, नृत्य धाई, पुनि मृदंग बजाई ।

ऐसे पदों में स्वर, ताल थाट, तत्कार व गायन, वादन और नृत्य आदि पक्षों का पूर्ण समावेश है। सूरदासजी के पदों में यह संगम स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। *कृष्णलीला गायन, नर्तन और वादन की रंगस्थली है।* रासलीला में तो उनकी चरम परिणति हो जाती है।

सूर के पदो मे लोक गीतात्मकता एवं शास्त्रीय संगीत की पूर्ण व्याप्ति है। उनके आराध्य श्री कृष्ण स्वयं लोक संस्कृति के प्रतीक हैं। बाल-सुलभ चेष्टायें, गोचारण, यमुनातट, वंशीवट, निकुंज, वनविहार कृष्ण और राधा का सुलभ प्रेम, गोप और गोपियों के *कार्यकलाप आदि ब्रज के लोकगीतों, रसिया, होरी, बहार,* हिन्डोल, सोहर फाग, बधाई, गाली, रासलीला आदि गीतों और लोकधुनों की बहुलता दर्शनीय है। सूरसागर लोकगीत और लोक सगीत का अनूठा भण्डार है। ब्रज की *लोक संस्कृति का ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।*

शास्त्रीय संगीत का समागम सूर के पदों मे प्रचलित पद्धति के अनुसार पारम्परिक ढंग से हुआ है। उनका पद गायन *प्रचलित राग रागिनियों पर आधारित* है। छः राग और छत्तीस रागिनियाँ उनके पद गायन की आधार है। पद पर राग का उल्लेख सूर की शास्त्रीय गायन शैली को उजागर करता है। उन्होंने अपने अनेक पदों मे *६ राग और छत्तीस रागिनियों का विस्तार है।* वर्णन किया है—

सोरठ, गौड, मल्लार सोहावन, भैरव ललित बनायो।
मधुर विभास चुनत बिलावत, दम्पति अति सुख पायो।
देवगिरी देसाग पुनि, गौरी श्री सुखरास।
जैतश्री और पूर्वी तोड़ी, आसावरी सुखराज।
रामकली, गुणकली, केतकी, सुर सुघराई गावै।
जैजैवन्ती, जगत, मोहिनी, सूर सौ बीन बजावै।

सूरदासजी के सारे ही पद कीर्तन हेतु समय-समय पर स्वान्तः सुखाय रचे गये, *अतः उनका पारंपरिक राग-रागिनी पर* आधृत होना स्वाभाविक है। समय तथा ऋतु और उत्सव के अनुकूल सूरदासजी अष्टयाम की पूजा में पद गायन करते थे, इसलिए उन्होने समय, ऋतु और उत्सव के अनुकूल राग मे ही अपने पदो का तन्मयता के साथ गायन किया। रतिभाव को त्रिवेणी अर्थात् भगवत विषयक रति, वात्सल्य रति, दाम्पत्य रति का उन्होंने अगाध सागर भरा जो भारतीय संस्कृति की पारंपरिक रागरागिनयो मे तरंगित होता रहा है।

भारतीय संगीत की प्राचीन पद्धति ध्रुवपद शैली है। ध्रुवपद सामवेद की ऋचाओं से निकली सगीत शैली है जो आज भी प्रचलित है। ध्रुवपद माने अटल

पद, जिसमें स्थायित्व और बेजोड़ संतुलन है। राग, रस और काव्य का समन्वित आह्लादकारी स्वरूप ध्रुवपद की विशेषता है। मध्यकाल में भक्ति संगीत के लिए संस्कृत ब्रज अवधि आदि भाषाओं में ध्रुवपदों का ही प्रयोग किया जाता था। संस्कृत, ब्रज अवधि आदि भाषाओं में ध्रुवपदों की रचना संस्कृत के कवियों के अतिरिक्त सूरदास, हरिदास, नन्ददास रसखान जैसे भक्त कवियों ने ही नहीं की वरन तानसेन, बैजूनायक सदारंग-अदारंग जैसे संगीतकारों ने भी बहुलता से की। ध्रुवपद गायकी में काव्य और संगीत का बेजोड़ सम्बन्ध तथा अंतर अनुशासन विशेष उल्लेखनीय है।

सूरदासजी ने ब्रज भाषा में जिन पदों की रचना की है, वे पारंपरिक ध्रुवपद शैली में तत्कालीन समय से लेकर आजतक मन्दिरों में गाये जाते हैं। काव्य और संगीत की यह जुगलबन्दी सूर के पदों की प्रमुखतम विशेषता है। वैसे तो सूर ने सभी प्रचलित राग-रागिनियों का प्रयोग किया है, पर कुछ रागिनियों जैसे मल्लार, बिलावल, सारंग आदि उनकी सर्वप्रिय रागिनियां हैं। बिलावल राग के प्रति सूरदास का विशेष लगाव रहा है, इसलिए सूरसागर का प्रारम्भ भी बिलावल से और अन्त भी बिलावल से हुआ है। आगे चलकर उनके नाम से सूरदास मल्लार रागिनी भी प्रचलित हुई।

गायन और वादन का पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण सूर ने अपने पदों में प्रचलित सभी शास्त्रीय और लोक प्रचलित वाद्य यंत्रों का वर्णन किया है। पुष्टि सम्प्रदाय में मुरली, मृदंग, झांझर, झालर, बीना, पखावज, डफ, मुरज, चग, उपंग, दुन्दुभी आदि *वाद्ययन्त्रों का महत्व प्रदर्शित किया गया है जिसमें मुरली की तो महिमा* ही अनोखी है।

ताल, लय, थाट, तत्कार, अलाप, भावमुद्रा आदि का सूर के पदों में बार-बार वर्णन हुआ है, जो काव्य, संगीत नृत्य वाद्य आदि के विस्तृत अध्ययन के आयाम प्रस्तुत करता है ' उनके महारास के पदों में गायन वादन और नर्तन की त्रिवेणी सहज रूप में प्रवाहित हुई है।

कृष्ण चरित्र अनुभवों और दृश्यात्मकता की बहुलता के कारण विशेष चित्रोपयोगी रहा है। 'सूरसागर' उपयुक्त चित्रोपयोगी उपकरणों का भंडार है। राजस्थानी चित्रकला में भागवत की परम्परा में इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का चित्रण तो किसी भी शैली में उपलब्ध नहीं है, पर चुने हुए विशिष्ट पदों और प्रसंगों को आधार बनाकर चित्र बहुलता से बने हैं, जो लघु चित्रों के रूप में देश-विदेश में बिखरे पड़े हैं। ये चित्र न केवल धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है, वरन चित्रकला की दृष्टि से भी अत्यधिक सुन्दर एवं मूल्यवान है।

राजस्थान में सर्वप्रथम वास्तविक चित्रकला महाराणा जगतसिंह सन् (१६२८-१६५२) के राज्यकाल में उदयपुर मे प्रारम्भ हुई, जिसे 'चितारों की ओवरी' के नाम से जाना जाता है। सन् १६५०-५१ में अंकित यहाँ का सूरसागर कला और काव्य के अध्ययन के लिए विशेष महत्व का है। जिसके अनेक पदांकित सचित्र पन्ने गोपी कृष्ण कानोड़िया कलकत्ता के निजी संग्रहालय में उपलब्ध हैं। मेवाड़ शैली के ये चित्र अत्यन्त उत्कृष्ट एवं कलात्मक हैं। लगभग इसी समय के कुछ चित्र कुंवर संग्रामसिंह जयपुर के निजी सग्रह मे है।

सूरसागर को चित्रित करने में मेवाड़ शैली की प्रमुख देन रही है। भ्रमरगीत के प्रसंग पर आधारित मेवाडशैली मे सन् १६५६ मे चित्रित अनेक पन्ने राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली मे सुरक्षित है। विदेशों में भी सूर-सागर के अनेक लघुचित्र बिखरे पड़े हैं, जिनका कला और साहित्य की दृष्टि से अध्ययन अत्यावश्यक है। मेवाड शैली के ही लगभग एक दर्जन चित्र बड़ौदा म्यूजियम में उपलब्ध है, जो कि १८वीं शती मध्य में चित्रित गोवर्धन धारण प्रसंग सम्बन्धी हैं। इनमें पत्रों के चारों ओर पद लिखे है, तथा बीच मे पदों के आधार पर चित्र बने है।

सूर सागर सम्बन्धी अनेक चित्र ऐसे हैं, जिन पर केवल कृष्ण के लीला संबंधी शीर्षक ही अंकित हैं, ऐसे चित्रों का आधार भागवत भी हो सकता है, पर ये चित्र सूरसागर के अध्ययन के लिए विशेष लाभकारी हैं। इन चित्रों के आधार पर सूर सागर के तत्सम्बन्धी पदो का अध्ययन भली प्रकार से किया जा सकता हैं। अधिकतर ऐसे चित्र अलौकिक लीला सम्बन्धी है। ऐसे चित्रों की सख्या देशी-विदेशी सग्रहालयों एवं व्यक्तिगत संग्रहकर्ताओं के पास सर्वाधिक है। ऐसे चित्रों में मेवाड शैली के जहाँगीर कालीन ४० चित्र राजकीय संग्रहालय कोटा, मे उपलब्ध है, जो कला एवं भावाभिव्यंजन की दृष्टि से बेजोड़ हैं, इनमे केवल घटना या भाव संबधी शीर्षक अंकित हैं। राजकीय संग्रहालय उदयपुर कला का भण्डार है, जहाँ ऐसे ३२६ लघुचित्र मेवाडशैली के हैं। भारत कला भवन बनारस और राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली मे भी ऐसे लघुचित्र विशेष उपलब्ध हैं। वास्तव मे तो शीर्षक युक्त और शीर्षकमुक्त ऐसे कृष्णलीला परक चित्रो का कला विथियों मे बाहुल्य है।

सूरदास जी लोक जीवन के कवि हैं। उनका सूरसागर ब्रज की लोकरंजनकारी लीलाओं से भरपूर है। यही कारण है कि लोक कला पर सूरदासजी का प्रभाव अत्यधिक है। १५ वी शती के अनेक मन्दिरो की दीवारों पर कृष्णलीला के भित्तिचित्रों को बनाने की परम्परा ही चल पड़ी थी। जिन मन्दिरों, महलों एवं छतरियों मे और हवेलियों मे भित्ति-चित्रण हुआ है, वहाँ कृष्णलीला का चित्रण बहुलता से मिलता है। ऐसे व्यक्ति चित्र एवं समूह चित्रों में सूर सागर के चित्रों को भली प्रकार टटोला जा सकता है।

हिन्दी साहित्य में सूर सागर ऐसा ग्रन्थ है, जो सगुण भक्ति का महत्वपूर्ण ग्रन्थ होने के कारण चित्रयोजना से भरपूर है। इस ग्रन्थ में अंधे सूर की चित्र योजनात्मक शक्ति, रूपांकन की सामर्थ्य और रंगों की सतरंगी छटा देखते ही बनती है।

मध्यकाल में मंदिर ऐसा केन्द्र था जहाँ सगुण भक्ति के माध्यम से सारी ललित कलाएँ केन्द्रभूत थी। स्थापत्य की दृष्टि से मन्दिर का निर्माण तथा देवीदेवताओं के स्वरूपों की मूर्तियो का निर्माण और स्वरूप के सम्मुख अष्टयाम की सेवा पूजा में पदो का रागरागिनियो मे गायन तथा साथ ही चित्रांकन की प्रथा ने ललितकलाओं का पचमेल प्रस्तुत कर दिया था। सूरदास जी जतीपुरा स्थित श्रीनाथजी के ऐसे ही मन्दिर से सम्बन्धित थे, अतः उनके काव्य मे ललितकलाओं का पूर्णरूपेण समावेश स्वाभाविक है। साहित्य संगीत और चित्रकला की त्रिवेणी तो अपने चर्मोत्कर्ष पर प्रवाहित हुई है। यह निष्कर्ष निकालना शेष ही रह जाता है कि वे सगीतकार थे या कवि या शब्द चित्रकार। उनकी थाती कला जगत की अमरदाय है। □

सूर की रंग योजना

चित्रकला मे जिस प्रकार रगो का महत्व है उसी प्रकार काव्य में भी वे महत्व-पूर्ण है। काव्य और चित्रकला मे रेखाकन प्रमुखतया रूप चित्रण एव वस्तु चित्रण के द्वारा बाह्य ढांचा खड़ा करता है पर रंग उसमे प्राण प्रतिष्ठा कर सुसज्जित करने मे सहयोग देते हैं। काव्य मे ऐन्द्रियता का तीव्र अनुभव रग योजना के द्वारा ही होता है, क्योकि रगीन उपकरणो की अनुभूति से कवि और रुचि सम्पन्न पाठक एक प्रकार के रोमांच का अनुभव करता है ?

कलाकार की दृश्य चेतना रंगो के प्रभाव को ग्रहण कर अभिव्यक्ति के समय अन्तर्मन में उपलब्ध रग सवेदनात्मक चेतना के द्वारा अंशत. तथा समग्र बिंब रूपों में छिटका देती है। इस प्रकार जागरूक कवि रगों के प्रभाव को बड़ी सूक्ष्मता से ग्रहण कर समय-समय पर अपने काव्य मे उनका उचित प्रयोग करता रहता है। काव्य मे रग-योजना केवल रगो का नामोल्लेख नही है, बल्कि इसके द्वारा अभिप्सित भावो की अभिव्यक्ति करना तथा उन्हें पाठक तक प्रेषणीय बनाना है। भावों को समृद्ध करने तथा काव्य मे व्यजकता लाने के लिये कवि रगों का प्रयोग करता है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने स्वभाव एवं मन.स्थिति तक के निश्चित रग माने है।

कवि रग योजना द्वारा काव्य चित्रों मे रंग भर कर उन्हे अधिक संवेदनशील बनाता है। दो या दो से अधिक रंगों के सयोजन से चित्रकार एव कवि अपनी विशाल हृदयता एव सवेदन शीलता का परिचय देता है। अनुरूप वर्ण सयोजन (काम्बीनेशन ऑफ मैचिंग कलर्स) एवं विरोधी वर्ण संयोजन (काम्बीनेश ऑफ कन्ट्रास्ट कलर्स) के माध्यम से कलाकार अपने सृजन को अधिक प्रभावशाली बनाता है।

यह आश्चर्य की ही बात है कि अंधे कवि सूरदास जी हिन्दी के सर्वाधिक रंगीले कवि हैं। मध्यकाल मे तो रगयोजना की दृष्टि से सूर का विशेष स्थान है। उनमें कांगड़ा कलम के रगों का संगीत, राजस्थानी शैली की लोक कलात्मकता और मुगल कलम के सुनहरे एवं विशुद्ध नीलाकाश सपिल मेघ, मणिमाणिक की भांति बारीकी से बनाये गये पेड, फूल-पत्तियों की मिली-जुली सौन्दर्य दृष्टि प्राप्त होती है। रंगयोजना की दृष्टि से अन्य कवि सूर के सामने रंगान्ध लगते हैं। रंगो का इतना विस्तृत ज्ञान तथा उनका काव्य मे उचित प्रयोग सूर को जन्माध न मानने के लिये

बाध्य करता है। जन्मांध कवि इतना सतरंगा चित्रण कर ही नहीं सकता। रंग तत्व के कारण सूर का काव्य अत्यधिक ऐन्द्रियक एवं मन मोहक हो गया है।

सूरदास जी ब्रज के स्वच्छंद ग्रामीण वातावरण के कवि हैं, इसलिये उनकी रंगयोजना लोक कलात्मक प्रभाव से परिपूर्ण है। लोक जीवन मे भौतिक रंगो का प्रयोग किया जाता है इसलिये सूर के काव्य मे लाल, पीला, नीला, हरा, श्वेत आदि रगों की स्पष्ट छाप दर्शनीय है। उन्होंने अपने काव्य में प्रयुक्त रंगों का चुनाव अनेक उपकरणों से किया है। जिनमें वृन्दावन का प्राकृतिक सौन्दर्य, राधा-कृष्ण गोप-गोपियों के अंग-प्रत्यंग, अनेक वस्त्राभूषण तथा पशु-पक्षी और घरेलू वातावरण में काम आने वाले उपकरण प्रमुख हैं। निम्नांकित रंगो के लिये अंकित उपकरणों का प्रयोग सूर के काव्य मे विशेष दृष्टव्य है।

लाल—सरस्वती, बिंबफल, सुरंगसारी, लाल लहंगा, गुलाब, जावक, पीक, कुंकुम, तमोर, अरुण अधर, रतनारे, नैन आदि

पीला—दामिनी, दीपशिखा, कनकलता, पीतपट, पीताम्बर, केशर आड़, हरद, स्वर्ण आभूषण, मृगमद, कनक कटोरा आदि

नीला—नीलाम्बर, नील जलद, नील कमल, नीलम, यमुना, मरकत मणि नील कचुकी, नील निचोल आदि

श्वेत—दाड़िम, बक पक्ति, गगा, हस, रजत, चौवा, चंदन, दसनावली, धौरी गाय आदि

काला—घन घटा, यमुना, भंवर, अहि, काजर, सांवरी, श्याम, धूमरी गाय आदि

हरा—हरियाली, भूमि, कुंज घर, कीर, हरी हरी भूमि आदि

उपर्युक्त उपकरणों के माध्यम से महाकवि सूरदासजी ने अपने पदों मे जो रंग योजना की है वह अत्यधिक मनोहारी बन पड़ी है। अनुरूप वर्ण योजना और विरोधी वर्ण संयोजन के अन्तर्गत सूर काव्य की सतरंगी छटा देखी जा सकती है।

अनुरूप वर्णयोजना

भक्ति कालीन सूरदास के पदो में अनुरूप वर्ण संयोजन की बहुलता मिलती है। रंगों की विविधता तथा अनोखी छटा मे कवि ने रंगो की अनुरूपता (मैचिंग कलर्स) की ओर विशेष ध्यान दिया है। कृष्ण के रूपांकन के लिये नील जलद, स्याम सरोज की उपमायें सटीक बैठी हैं—

नील-जलद-अभिराम स्यामतन, निरखि जननि दोउ निकट बुलाय।

X X X X

सुन्दर स्याम-सरोज-नील-तन, अंग-अंग सुभग सकल सुखदनियाँ।

नील बादल और नील कमल की उपमायें देकर कवि ने सूरसागर में सैंकड़ो बार साधर्म्य प्रस्तुत किया है। रंगों की यह सिमत्रि सूर के पदों मे देखते ही बनती है।

कृष्ण सांवरे थे। वे परकीया कर लौटे हैं। हड़बड़ी मे अपना पीताम्बर भूल आये और नायिका की नीलाम्बर ओढ़ आये। राधा उनके अनुरूप वेश को देखकर कहती है "तुम्हारे पीताम्बर का क्या हुआ 'क्या नीलाम्बर ओढ़ कर आये हो' नील रंग का वर्ण और नीला ही वसन? इस शोभा का क्या कहना—

पीताम्बर पट कहा भयो।
नीलाम्बर ओढे हो आए, अति डहदहो नयो॥
तैसोई अग वसन पंग तैसोई कहा कहो यह सौभा।

रंग तत्व के द्वारा कवि ने परकीयत्व के प्रति कितना मार्मिक व्यंग कसा है। अनुरूप वर्ण संयोजन से सूरसागर भरा पड़ा है।

कृष्ण की ही भाँति राधा के सौन्दर्य को अंकित करने के लिये कवि ने अनुरूप वर्ण संयोजन का मोहक चित्रांकन किया है। राधा अनुरूप रंगों की वस्तुओं से अपना सोलह श्रृंगार सजाती है। वह वेणी रचती है, विशाल भाल पर लाल टीका लगाती है। अजन से लोचन आंज कर तथा आभूषण पहनकर पान का बीड़ा चबाती हुई कृष्ण के लिये मिलनातुर है। राजस्थानी चित्रकला मे भी राधा के रूप सौन्दर्य अंकन में चित्रकारों ने अनुरूप वर्ण सयोजन का विशेष ध्यान रखा है। दामिनी सी, दीपशिखा सी, कनक लता सी, तथा चंपे की कली सी राधा को अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से चित्रकारों ने सुसज्जित कर सूरदासजी की कल्पना को साकार कर दिया है। लाल रंग के प्रति सूर का विशेष लगाव है और मेवाड़ शैली का भी। राधा का गौर वर्ण, बिंबाफल से अधर, गुलमुहरी रंग के छापे छपा अमलतासी गात, ललाट पर रोली की बेंदी, पांवो में महावर मुख में पान का बीडा और लाल साड़ी, लाल चोली, लाल लहगा, आदि से सुसज्जित अग प्रत्यंग और सबके ऊपर रतनारे नयन अनुरूप रंग-योजना के सुन्दर उदाहरण है। सूर के पदो पर आधारित मेवाड़ शैलो के चित्रो मे उपर्युक्त अनुरूप वर्ण योजना सहज ही देखी जा सकती है।

विरोधी वर्ण योजना

अनुरूप वर्ण योजना से भी अधिक सूर के काव्य मे विरोधी वर्ण योजना की छटा विशेष परिलक्षित होती है। सूरदास जी ने केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिये विरोधी रंग तत्व का प्रयोग नही किया, वरन् राधा-कृष्ण के सौन्दर्य को द्विगुणित निखारने एवं ऐन्द्रियक बनाने के लिये भी किया है। सौन्दर्य वर्णन के विषय में कवि की रुचि उत्कृष्ट है। श्याम शरीर पर पीत वस्त्र, गौर शरीर पर नील

बसन, रोम राजि के बीच श्वेत मुक्तमाल आदि विवरण उनके विरोधी रंग संयोजन के ज्ञान के परिचायक है।

विरोधी रंग तत्व की उपर्युक्त आभायें सूर सागर में भरी पड़ी हैं। उनके काव्य में कृष्ण से पीताम्बर और राधा से नीलाम्बर अलग नहीं हुआ है। कृष्ण और राधा का रूप रंग स्वयं विरोधी रंगयोजना का साक्षात प्रतीक है, श्याम वर्ण कृष्ण और गौर वर्ण राधा दोनों के मिलन से विरोधी रंग की अनुरूप छटा उनके सौन्दर्य को और भी निखार देती है, जिसके लिये सूरदासजी ने जी भरकर उपमाएँ प्रस्तुत की हैं।

बाल कृष्ण ने पीली झंगुली पहन रखी है जिसकी छवि ऐसी लगती है मानों बादलों में बिजली दमक रही हो—

पीत झंगुलिया की छवि राजति,
बिज्जुलता सोहति मनु कंदहिं।

कृष्ण के सौन्दर्य के निखार हेतु पीत पट, पीताम्बर, पीत कछनी आदि का अंकन सूरदासजी ने तथा राजस्थानी चित्रकारों ने स्थान-स्थान पर किया है—

ऐसे हम देखे नन्द नन्दन।
स्याम सु-भग तनु, पीत वसन, जनु नील जलद पर तड़ित सुछन्द

कृष्ण व्रज की गलियों में खेलने निकले हैं। उन्होंने जो वेश धारण कर रखा है, वह विरोधी रंग योजना का सुन्दर उदाहरण है।

खेलत हरि निकसे व्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर बाँधे, हाथ लिये भौंरा चक डोरी।
मोर मुकुट कुंडल स्रवननिकर दसन दमक दामिनी छबि भोरी।।
गए श्याम रवि तनया के तट, अग लसति चदन की खोरी।।

श्याम वर्ण के कृष्ण और सभी उपकरण पीले और श्वेत जो विरोधी वर्ण योजना के परिचायक हैं। मेवाड शैली के सूर-सागर पर आधृत अनेक चित्रों में उपर्युक्त वेश-भूषा का सटीक चित्रण हुआ है। कृष्ण की आँखों का सूर ने विस्तृत अंकन किया है। लाल, श्वेत और काले रंगों की विरोधी रंग योजना का उपमा सहित इतना मोहक उदाहरण सूर के अतिरिक्त और कौन दे सकता है—

अरुण, स्वेत, सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाइ।
मनु सुरसरि, अगा यमुना मिली, आसग्म कीन्हो आइ।।

गंगा का स्वेत, यमुना का काला और सरस्वती का लाल जल जैसे कृष्ण की रक्ताभ आँखों में ही समा गया हो।

कृष्ण की ही भाँति राधा के रूपांकन में भले सूर एवं राजपूत शैली के चित्रकारों ने विरोधी वर्ण योजना का मोहक निर्माण किया है। प्रथम मिलन में राधा के विरोधी रंग संयोजन से ही कृष्ण आकर्षित हो उठते हैं—

औचक ही देखति तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठ रुलति झकझोरी॥

विरोधी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित ऐसी राधा पर कृष्ण प्रथम दर्शन में ही मोहित हो जाते हैं। राधा के गोरे शरीर पर नील पट ऐसा लगता है मानों बादलों के बीच दामिनी समाहित है। लाल सारी, नील लहगा, श्वेत अंगिया धारण किये हुये राधा अत्यधिक सुन्दर लगती है। इसी प्रकार सूर ने राधा और गोपियों को अनेक विरोधी रंगो में सराबोर किया है। राजस्थानी और पहाड़ी चित्रकला की लगभग सभी शैलियो में रंगों की यह विविधता दर्शनीय है। राधा की रूप माधुरी मनमोहक है, जिसका श्रेय विरोधी रंग योजना को भी है—

आधौ मुख नीलाम्बर सौं ढकि, बिथुरी अलकें सोहे।
एक दिसा मनु मकर चाँदनी, घन बिजुरी मन मोहैं॥

राधा कृष्ण की युगल-जोड़ी के चित्रण मे कवि और चित्रकारो ने विशेष रुचि दिखाई है। सूर सागर मे अनेक चित्र युगल-छवि के अंकित है, जिनमें विरोधी रंगो की छटा दर्शनीय है। राधा कृष्ण स्वयं ही विरोधी रगो के प्रतीक हैं। दोनों गल बाँहि डाल कर चलते हैं तो विरोधी रंगो की छटा खिल उठती है।

स्यामा स्याम कुंज बन आवत।
भुज भुज कंठ परस्पर दीन्हे, यह छवि उनही पावत॥
X X X X
गौर स्याम मिलि नील-पीत छवि, घन दामिनी संचार नौ।
X X X X
लपटे अंक सौं अंग।
सुरसरि मनो कियो संगम तरनि तनया संग॥

अनेक रंगो की गुलाल से राधा-कृष्ण और अन्य गोप-गोपियाँ होली खेल रहे हैं। गुलाल इतनी उड़ रही है कि "उड़त गुलाल लाल भये बादर, रंगि गये सिगरे अटा अटारी" की स्थिति हो गई है। होली के इस मादक वातावरण में ब्रज का सारा परिवेश सतरगा हो उठा है। वसन्त सम्बन्धी पदों में सूर की रंग योजना का अनुरूप एवं विरोधी रंग वर्णन का चित्रण सहज ही दृष्टव्य है—

राजस्थानी शैली और पहाडी चित्रकला की विभिन्न शैलियों में सूर के पदो पर आधारित एवं होली सम्बन्धी अन्य चित्रो मे सूर की रंग योजनात्मक कल्पना को देखा

जा सकता है। विभिन्न रंगों गुलाब, अबीर, स्वर्ण पिचकारी, स्वर्ण कलश आदि का अंकन ऐसे चित्रों में विस्तार से हुआ है। होली सम्बन्धी ऐसे चित्र समूह हैं तथा होली के हुड़दग के कारण तीव्र गत्यात्मक भी है। सूर की चित्र भाषा के समान ही चित्रकारो ने भी रगों की चटकता विविधता, के साथ ही समूह और तीव्र गत्यात्मक चेष्टाओं कार्यकलापों का चित्रकारों ने विशेष ध्यान रखा है। मेवाड़ शैली, बूँदी शैली तथा कांगड़ा कलम में ऐसे चित्रों की भरमार है। इन चित्रों मे फूल पत्तों की चटकता, कुँओं में सतरंगापन, प्रात, संध्या की रंगोली, रंग बिरंगे वस्त्राभूषणों का अंकन और होली के उपकरणों का अंकन बड़ी सफाई के साथ हुआ है। वसंत, मेघ मलार, बारहमासे मे फाल्गुन मास चित्रण आदि मे सूर की कल्पना सजीव हो उठी है।

वास्तव मे ही महाकवि सूर की रंग योजना मनोहारी है जिससे सहज ही विश्वास नही होता है कि वे जन्मांध थे। रंग योजना के अध्ययन के बिना सूर का अध्ययन निश्चय ही अधूरा और एकांगी है।

युगल छवि के अकन में सूरदास ने अनेक उपमाओं का प्रयोग किया है। युगल छवि के चित्रण में जयपुर, किशनगढ, बूँदी, काँगड़ा शैलो की अपनी निजी विशेषतायें है। उन्होने जैसे सूर की कल्पना को साकार कर दिया है। सूर की रंग योजना का इन चित्रो के आधार पर गहन अध्ययन हो सकता है.

वर्ण वैविध्य

लोक कलात्मक प्रभाव के कारण सूरदास के काव्य मे रंगो की सूचक अवस्था तो मिलती ही है, साथ ही रंगो की विविधता, रगो की होली, रगो की बौछार आदि जितनी सूर सागर मे मिलती है उतनी अन्य किसी ग्रन्थ मे नही। लगता है सूरदास जी का रंगो के प्रति विशेष लगाव था। राधा-कृष्ण की रग रलियो को वे सभी रगो में सराबोर कर देना चाहते थे।

सूर सागर में झूलना तथा वसंत दो ऐसे प्रसग है, जिनमे सूर के वर्ण वैविध्य का पता लगता है। "झूलना" का सम्बन्ध श्रावण मास से है। श्रावण में प्रकृति अपना अनोखा श्रृंगार सजाती है। "चारो ओर हरी भरी भूमि है, काली घटायें उमड़-उमड कर आती है, बगुले की पक्ति आकाश मे उडती जा रही है। ऐसे मे कचन के खभों पर रंग-बिरंगी रेशम डोरी का झूला उपवन मे सजाया गया है। रंग-बिरंगे वस्त्राभूषण पहनकर गोपियां कृष्ण के साथ झूला झूलने मे मग्न है। सुरंग हिन्डोला है। लाल, हीरे, पन्ने उसमे जडे हैं। `श्याम, श्याम का झूलना रंगो की बहार बिखेर देता है। अधिकतर राजस्थानी शैलियों मे राग मेघ-मलार मे झूलने का सुन्दर और सतरंगा चित्रण हुआ है, जिसमे सूर की कल्पना साकार हो उठी है।

सूर के रंगों की सर्वाधिक वर्ण विविधता "वसंत" के प्रसंग में दर्शनीय है। ऋतुराज वसंत में प्रकृति स्वयं नवीन पल्लवों तथा बहु रंगी पुष्पो से अपना श्रृंगार

सजाती है। रंग बिरंगे फूलों से सारा वातावरण महक उठता है। सूरदासजी ने अनेक फूलों के नाम गिना कर तथा उनके रंगों के वैविध्य का चित्रण कर काव्य मे रंग-योजना का सहज परिचय दिया है।

वसंत के मादक वातावरण मे होली भारतीय लोक जीवन का अत्यधिक रगीला त्यौहार है। प्रथम तो फागुन चैत में प्रकृति ही चारों ओर सुगंधो एवं रगों की वर्षा करती है, दूसरे सारा समाज रंग खेलने के लिए लालायित हो उठता है। ब्रज की होली तो और भी प्रसिद्ध है। सूर ने वसत के पदो मे ब्रज की अर्थात् वृन्दावन, गोकुल, बरसाना, नन्दग्राम आदि स्थानो की प्रसिद्ध होली का जी खोलकर वर्णन किया है, जिसमें रंगों की विविधता के प्रति कवि अत्यधिक जागरूक है।

होली त्योंहार ही रगों का है। सूर के अनुसार होली खेलने के लिये रग-बिरगें वस्त्राभूषण पहन कर ब्रज का पूरा समाज एकत्रित हो जाता है। पचासों तरह की अबीर तैयार की जाती है। सोने के माटों मे रंग घोला जाता है गोपियाँ नगर और गलियों में राती "पीरी" अंगिया तथा लाल नीली गुलाबी साडी पहनकर चौवा, चन्दन अगरु, अरगजा आदि छिड़कती फिरती हैं—

हरि संग खेलत फाग चली।
चौवा, चंदन अगरु, अरगजा, छिरकत नगर गयी॥
राती पीरी अंगियाँ पहिरे, नव तन झूमक सारी।
मुख तमौर, नैननि भरि काजर, देही भावत गारी॥

रंग मे सब सराबीर हो गये हैं। होली के इस मादक वातावरण मे व्रज का सारा परिवेश मोहक हो गया है। रंग-बिरगी गुलाल इतनी उड़ रही है कि अटा-अटारी तक रगीन हो गये है—

सौंधे तेल अबीर अरगजा तैसी जरद केशर चटकारी।
उडत गुलाल लाल भरे बादर रगि गये सिगरे अटा अटारी॥

वसंत सम्बन्धी पदो में सूरदास के रगो की विविधता तथा अनुरूप एवं विरोधी रंग योजना देखते ही बनती है। इनका अध्ययन राजस्थानी चित्रकला मे बने सूर सागर के आधार पर बने चित्रों के माध्यम से किया जा सकता है, विभिन्न रंगों गुलाल अबीर स्वर्ण पिचकारी स्वर्ण कलश और वेश-भूषा तथा अन्य उपकरणों का अंकन ऐसे चित्रों में विस्तार से हुआ है। होली सम्बन्धी सूर के पद और उनके आधार पर बने चित्र समूह-चित्र हैं तथा होली के हुडदग के कारण तीव्र गत्यात्मक भी हैं। सूर के पदो की ही भाँति रंगो की चटकीली विविधता के साथ समूह और तीव्र गत्यात्मक चेष्टाओं और कार्य कलापों का भी चित्रकारों ने विशेष ध्यान रखा है।

वास्तव में तो सूरदास जी रंगों के प्रति अत्यधिक जागरूक है। उनका काव्य रंगों की जादूगरी का एक अनुपम उदाहरण है, जो पूरे हिन्दी साहित्य में देखने का नही मिलता। □

रसिकप्रिया का चित्रण और केशव का महत्व

हिन्दी साहित्य के अध्ययन में बहुत से कवियों को उनका उचित स्थान नहीं मिला और कुछ कवि ऐसे रहे है जिनका मूल्यांकन ही अनुचित हुआ। इस दृष्टि में केशव के साथ भी औचित्य नहीं वरता गया। आचार्य शुक्ल जैसे आलोचकों ने उन्हें विशेष महत्व नही दिया। दूसरी ओर श्री भगवान दीन और जगन्नाथ तिवारी जैसे आलचकों ने उनकी रामचन्द्रिका को महत्वपूर्ण ग्रन्थ साबित करने में अपनी शक्ति लगादी। फल यह हुआ कि इस विरोध, अन्तर-विरोध में आचार्य कवि केशव का समुचित व्यक्तित्व उभर कर सामने नही आ पाया। जगत प्रसिद्ध उनकी रचना रसिकप्रिया पर्दे में ही छिपी रह गयी, जिसके कारण केशव के आचार्यत्व, रसिक कवि और सभ्रात व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त नही हो सका। उसके स्थान पर केशव एक कठोर काव्य के प्रेत और चमत्कार में उलझे हुए कवि के रूप में ही प्रस्तुत किये जाते रहे है। उक्तियाँ प्रचलित हो गयी कि 'कवि को दीन न चहै बिदाई, पूछे केशव की कविताई' अर्थात् सुहृदय रसिकप्रिय कवि हृदयहीन और कठिन काव्य के प्रेत बनकर रह गये। यह कवि केशव के साथ ही अन्याय नही वरन् हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य भी कहा जा सकता है कि एक महत्वपूर्ण कवि और आचार्य का सही मूल्याकन नही हो पाया।

रीतिकालीन काव्य के व्यक्तित्व अविस्मरणीय है। उन्होने जिस प्रकार रीति परम्परा का संस्कृत ग्रन्थो से वहन किया है उसी प्रकार केशव के समकालीन और बाद के कवियों एवं आचार्यों ने केशव की परम्परा को बहुलता से अपनाया है। उनकी रसिकप्रिया इस दृष्टि से लैण्डमार्क ग्रन्थ है, जिसने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से रीतिकालीन काव्य परम्परा और तत्कालीन ग्रन्थ चित्रण की परम्परा को प्रभावित किया है।

आचार्य कवि केशव की 'रसिकप्रिया' रस निर्णय सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थ है। इसमे प्रधान रूप से श्रृंगार का और गौण रूप से अन्य रसों पर विचार किया गया है। वास्तव में तो संस्कृत से चली आ रही नायक-नायिका भेद की परम्परा का निर्वाह इस ग्रन्थ में परिपूर्णता से हुआ है। आचार्य केशवदास (सन् १५५५-१६१७) का यह ग्रन्थ समय की प्रथानुसार इस निर्णय पर लिखा गया उत्तम ग्रन्थ है। आचार्य केशव सौभाग्यशाली कवि थे, जिनको कला एवं साहित्य प्रेमी राजा इन्द्रजीत जैसा आश्रयदाता मिला। उनके दरबार में साहित्य और संगीत का अखाडा लगता

था, जिसमें देश के प्रसिद्ध गुणीजन कला का प्रसार करने में संलग्न थे। 'एक तहा केशव सुकवि, जानत सकल जहान' कह कर उन्होंने अपने महत्व को ही स्पष्ट नहीं किया वरन् ओरछा के कलात्मक वैभव का भी संकेत किया है। प्रवीणराय जैसी गायिका इन्द्रजीत के अखाड़े की शोभा थी, जिससे अकबर जैसा बादशाह भी प्रभावित था। ऐसे रसिक एवं कलात्मक वातावरण मे रसिकप्रिया की रचना हुई जिसका श्रेय इन्द्रजीत और प्रवीणराय को भी जाता है। केशव ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्वीकारा है कि इन्द्रजीत ने 'सब सुख देकर यो कह्यो रसिकप्रिया वर देहुं' और इस आदेश को मानकर आचार्य केशव ने रसिक प्रिया की रचना संवत १६४८ कार्तिक शुक्ला सप्तमी सोमवार के दिन प्रारम्भ की।

संवत सोरह सै बरस, बीते अड़तालीस।
कातिक सुदि तिथि सप्तमी, वार वरनि रजनीसो॥
अति रति-गति मति एक करि, विविध-विववेक-बिलास।
रसिकन को रसिक प्रिया, कीनी केशव दास॥

किन्तु केवल आश्रयदाता के आदेश से ही इतना महत्वपूर्ण और काव्यात्मक ग्रन्थ लिखा गया हो यह बात सही नही है। वास्तव में तो केशव की काव्यात्मक प्रतिभा और प्रवीणराय जैसी संगीतज्ञ के सम्पर्क से ही रसिक प्रिया जैसा ग्रंथ की सफल रचना हुई। गुरु केशव की शिष्यता मे ग्रहण करने वाली प्रवीणतम का केशव मे घनिष्ट सम्बन्ध था। सं० १६४८ मे तीस वर्षीय युवक कवि का मन राधा-कृष्ण के संयोग वियोग के चित्रण मे प्राचीन की अनुकम्पा से उलझा रहा और रसिक इन्द्रजीत का आग्रह कवि की 'रसिकप्रिया' मे फलीभूत हो उठा। राजा इन्द्रजीत के अखाडे की विलास प्रियता प्रवीणराय की उद्याम सुन्दरता और कलात्मकता तथा केशव की रीतिकालीन शृंगार प्रियता के कारण रसिक प्रिया की रचना हुई।

शृंगाररस का ग्रन्थ होने के कारण रसिकप्रिया को सोलह कलाओ अर्थात् सोलह प्रभाव मे रचा गया है, प्रत्येक शृंगार का एक प्रभाव। प्रथम प्रभाव मंगलाचरण संबंधी है जिसमे गणेश, श्रीकृष्ण आदि की वन्दना की गयी है। और साथ ही शृंगार के भेद, कवि वर्णन ग्रन्थ निर्माणकाल पर चर्चा की गयी है। द्वितीय प्रभाव मे नायक लक्षण कथित है और तृतीय मे नायिका लक्षण पर विस्तार से विवेचन है। चतुर्थ प्रभाव मे दर्शन पर विचार है और पंचम प्रभाव में दम्पत्ति-चेष्टा का वर्णन है, छटे प्रभाव मे भाव पर विस्तार से विवेचन किया गया है। सातवें में अष्टनायिकाओ पर विचार और आठवें मे विप्रलम्भ शृंगार के भेद विभदो का वर्णन है। नवां मान लक्षण से सम्बन्धित और दसवां मान-मोचन के संदर्भ मे है, द्वादश सखी वर्णन एवं त्रयोदश में सखी के क्रम बताये गये हैं। चतुर्दश प्रभाव मे अन्य रसों का विवेचन है। पंचदश प्रभाव मे वृतियों का वर्णन एवं अन्तिम षोडश

प्रभाव मे अनरस वर्णन है । इस प्रकार इस ग्रन्थ में प्रिय श्री कृष्ण और प्रिया राधा की शृंगारी लीलाओ के अतिरिक्त अन्य किसी बात को स्थान नही दिया गया है। रसिक जनो को नवाम का आनन्द देने के लिए राधा-कृष्ण की रति क्रीड़ाओं में ही नव रस का विधान कराने का श्रेय रसिकप्रिया के कलाकार का हैं। इस निर्णय पर रचित यह ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से केशव की उत्कृष्ट रचना है, जिसमें कवि ने शृंगार को रसराज मानकर अन्य रसों की भी स्थिति शृंगार के अन्तर्गत ही मान ली है ।

रसिक प्रिया का चित्रण

मध्यकालीन भारतीय चित्रकला में जयदेव के गीत गोविन्द के उपरान्त केशवदास की 'रसिकप्रिया' सर्वप्रमुख एवं बहुचिर्चित काव्यधार रही है । विदेशों में कला मर्मज्ञ सूर और तुलसी से अधिक केशव को रसिकप्रिया के चित्रण के कारण अधिक जानते है । काव्य का प्रेत माना जाने वाला कवि केशव सामंती कलात्मक परिवेश के लिए कितना रसिक प्रिय रहा है, यह बात उनकी 'रसिकप्रिया' और 'कवि प्रिया' नामक रीति ग्रन्थों के तत्कालीन प्रभावसे ही ज्ञात होती है । मुगल शैली, राजस्थानी शैली पहाडी शैली आदि में रसिक प्रिया के छन्दो के आधार पर न जाने कितने ही चित्र बने है, जो विश्व भर के संग्रहालयो में बिखरे पड़े हैं।

रसिकप्रिया का सर्वप्रथम चित्रण कब और किस शैली में हुआ, यह जान पाना कठिन है । हो सकता है, राजा इन्द्रजीत के अखाड़े मे रहने वाले चित्रकारों ने ही सर्वप्रथम रसिक प्रिया की नायिकाओं को प्रवीनराय की अनुकृति में ढाला हो । मुगल शैली में चित्रित ४४ चित्र अब तक के उपलब्ध सबसे प्राचीनतम चित्र है, जिनमे से ३२ बोस्टन सग्राहलय मे तथा अन्य लदन और अमेरिका के अनेक सग्राहलयो मे विखरे पड़े है। ये चित्र निस्चय ही सन् १५९१ के बाद और सन् १६१०-१५ के पूर्व के हैं। आनन्दकुमार स्वामी की राय मे शायद ये चित्र बीरबर को भेंट करने के लिए बने । अकबर के दरबार में प्रवीणराय का जाना और अकबर का केशव के काव्य से प्रभावित होना ग्रंथ चित्रण में विशेष रुचित रखना, इस तथ्य की विशेष पुष्टि करता है ।

१७ वी शति के मध्य से तो रसिकप्रिया राजस्थान की विभिन्न शैलियो का प्रमुख आधार ग्रन्थ बन गया है इस पुष्टि से मेवाड़ शैली का नाम सर्वोपरि है । बीकानेर दरबार के निजि सग्रह की रसिकप्रिया कला मर्मज्ञों की चर्चा का विषय रहा है। डॉ० हरमन ग्वेत्स ने प्रारम्भ में इसे अम्बर शैली का माना था, किन्तु शोध करने पर यह चित्र १७ वी शती मे चित्रित मेवाड़ शैली का ठहरता है । मेवाड़ शैली के ही उसी समय के ही अनेक चित्र विभिन्न संग्रहालयों और संग्रहक-र्ताओं के पास

बिखरे पड़े हैं, जिनमें मोतीचन्द्र खजांची, कु० संग्रामसिंह, रामगोपाल विजयवर्गीय तथा सरस्वती भंडार उदयपुर, आर्ट गैलेरी बड़ोदा आदि का नाम उल्लेखनीय है।

रसिक प्रिया का चित्रण बूंदी शैली में विशेष उपलब्ध है। भौगोलिक दृष्टि से बूंदी ओरछा के अधिक समीप रही है तथा बूंदी के कलात्मक परिवेश और काव्यत्मक वातावरण ने केशव के प्रभाव को अधिक ग्रहण किया है। रसिकप्रिया की परम्परा मे मतिराम का रसराज इस कथ्य का साक्षी है। १८ वी शति के बूंदी शैली के रसिक प्रिया के अनेक चित्र विभिन्न संग्रहालयों मे उपलब्ध हैं। राष्ट्रीय संग्रहालय नयी दिल्ली में ४८ पन्नों की अपूर्ण रसिक प्रिया कोटा के किसी ठिकानेदार से खरीदी गई कला की उत्कृष्ट धरोहर है। प्रत्येक चित्र २६ ६/१४ सी० एम का है, जिसके ऊपरी भाग में रसिकप्रिया का छंद कलात्मक ढग से शुद्ध लिखा है। सभी चित्र गहरे लाल हासिये से परिवेष्टित हैं, तथा पीली धरती पर छन्द लिखा है। अधिकतर चित्रो मे सुनहरी, लाल, हरा, नीला, गुलाबी आदि रंगों का प्रयोग किया गया है। १८ वी शति मध्य के ये चित्र राधाकृष्ण की लीलाओं की स्थली के अध्ययन की दृष्टि से तीन भागो में विभाजित किये जा सकते है—

१. महलों का परिवेश—जिसमे केशव की विलासपूर्ण अभिव्यक्ति के अनुकूल विशाल बारहृदरियां, रंग विरंगा प्रांगण, परकोटा तथा बड़े-बडे कमरे, मुगल शैली मिश्रित गोल और घुमावदार राजपूत छतरियां और धवल अट्टालिकाओं के परिवेश मे राधा-कृष्ण की रंगरेलियाँ चित्रित हैं। वैभव का वातावरण, रग बिरगा, फर्श, चित्रित स्तम्भ, सुनहरी कामदार पर्यंक, पर्दे, चिकें आदि राजसी ठाठवाट से शोभित सारा वातावरण कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है।

२. कुंज और बनों का परिवेश—कुछ चित्रों का आधार कुंज और वन है, जहाँ राधा-कृष्ण की लीलाओं का चित्रण किया गया है। लता गुल्मो से आच्छादित उपवन, कमलों से सुशोभित सरोवर, अनेक फलों, पेड पौधों की पृष्ठभूमि में राधा-कृष्ण की नायक नायिका भेद परक रगरेलियो का सुन्दर चित्रण किया गया है।

३. खुला परिवेश—कुछ चित्रो में राधा कृष्ण की शृंगारी लीलाओ का क्षेत्र गलियाँ या खुला हुआ परिवेश चुना गया है।

उपयुक्त चित्र चित्रकला की तथा राजसी ठाठबाट के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्व के हैं। एन० सी० मेहता आर्ट गैलरी अहमदाबाद में १७ वी शति के अन्त के कुछ चित्रकला की दृष्टि से बेजोड़ है, जिनमे बूंदी शैली का वैभव और रसिक प्रिया की कल्पना साकार हो उठी है। श्री मोतीचन्द्र खजांची के निजी संग्रह में बूंदी शैली के कुछ सुन्दर सचित्र पन्ने है, जिनका समय १८ वीं शती का प्रारम्भ माना है।

बीकानेर शैली में अंकित रसिक प्रिया के चित्र भी कला की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। नूरउद्दीन नामक चित्रकार ने नायिकाओं की मुद्राओं का काव्यानुकूल अंकन किया है। मारवाड़ और जयपुर शैली में भी कुछेक चित्र यत्र-तत्र मिलते हैं।

लगता है १८ वीं शती के उपरान्त में रसिकप्रिया का अंकन राजस्थान में कम हो गया और उसके स्थान पर चित्रकार अन्य लक्षण-ग्रन्थों को आधार बनाने लगे: जिसमें रसराज 'जगद् विनोद' का नाम उल्लेखनीय है। अठारहवीं शती के अंत से पहाड़ी शैली में रसिक प्रिया का बहुलता से चित्रांकन हुआ है जिसका श्री एम० एस० रंधावा ने विस्तार से विवेचन किया है।

खेद यही है कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में केशव की अमर कृति रसिक प्रिया को नहीं पढाया जाता है जबकि पश्चिम के देशों में कला मर्मज्ञ रसिकप्रिया के माध्यम से हिन्दी के कवि केशवदास को विशेष महत्व देते हैं।

□

बिहारी सतसई में चित्रयोजनात्मक तत्व

रीतिकालीन कवि बिहारी की 'बिहारी सतसई' काव्य की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण ग्न्थ नहीं है, वरन् भारतीय चित्रकला के लिए भी बहुचित्रित ग्रंथ रहा है। चित्रयोजनात्मक तत्वों की बहुलता के कारण इस ग्रन्थ को चित्रों की माला कहा जाता है। काव्य और चित्रकला का पारस्परिक सम्बन्ध यदि कहीं देखना हो तो वह बिहारी सतसई मे सहज ही देखा जा सकता है।

कवि बिहारी और उनकी सतसई

रीतिकालीन कवियो में बिहारीलाल (सं० १६५२-१७२०) का स्थान विशेष उल्लेखनीय है। गाथा सप्तशती, ग्रमरूक शतक, ग्रार्या सप्तशती ग्रादि की परम्परा में बिहारी ने ग्रपनी सतसई की रचना कर हिन्दी में श्रृंगारपरक सतसइयों का प्रारम्भ किया। उपर्युक्त मूल ग्रन्थ के उपलब्ध ग्रनेक पाठ-भेदो में श्री जगन्नाथप्रसाद द्वारा ७१३ दोहों का सम्पादित 'बिहारी रत्नाकर' ग्रधिक शोधपूर्ण एवं प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है। मुक्तक परम्परा का यह ग्रन्थ ग्रपनी वाक्‌पटुता, विस्तृत ज्ञान, समाहार शक्ति द्वारा कम मे कम शब्दो में गहन, गूढ ग्रौर विस्तृत संश्लिष्ट सतरंगा चित्रण करने के लिए ग्रादर्श माना जाता है। कवि बिहारी का एक-एक दोहा संश्लिष्ट भावों से भरा हुग्रा है। यह तो खाड की रोटी है ग्राप जिधर तोड़ेंगे उधर से ही मीठी निकलेगी।

७१३ दोहों का श्रृंगार परक एवं मुक्तक-काव्य परम्परा का यह ग्रन्थ काव्य एवं चित्रकला के विस्तार के लिए ग्राधार ग्रन्थ के रूप में विशेष महत्व रखता है। रीति-परम्परा की श्रृंगारी प्रवृत्ति को बढावा देने, विभिन्न टीकाएँ एवं सचित्र ग्रन्थ निर्माण करवाने मे बिहारी सतसई का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकार जी के शब्दों मे श्रृंगारी कवियों मे बिहारी का स्थान बहुत ऊँचा है। नीति, भक्ति, वैराग्य ग्रादि के दोहे भी उन्होने ग्रवश्य लिखे होंगे। किन्तु सतसई मे प्रधानता श्रृंगार रस की ही है।' श्रृंगार के संयोगवियोग के ग्राधार पर नायक-नायिकाग्रों के हाव, भाव, ग्रनुभावों का सूक्ष्म भावपूर्ण चित्रात्मक एवं चमत्कार पूर्ण ग्रंकन बिहारी सतसई मे गागर मे सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ करता है। रीतिकालीन सामंती विलासपूर्ण जीवन की सजीव झांकी बिहारी सतसई में सजीव एवं चित्रमय हो उठी है।

बिहारी रीति कालीन दरबारी कवि थे, इसलिए उनकी सतसई में सामंती जीवन का यथार्थ एवं चमत्कार पूर्ण चित्रण देखने को मिलता है। ओरछा के दरबार के उपरान्त शाहजहां के वैभवपूर्ण मुगल दरबार को बिहारी ने निकट से देखा था। उनकी काव्य कला से प्रभावित होकर राजस्थान के अनेक राजाओं ने उनकी वार्षिक वृत्ति बांध दी थी। एक बार वे आम्बेर के मिर्जा राजा, जयसिंह (१६२५-१६६७ ई०) के पास अपनी वृत्ति लेने गये थे, तब से वे अपने काव्य द्वारा राजा तथा अन्य सामंतों को प्रभावित करने के कारण वहां के राज कवि बनकर नियमित दोहों की रचना कर पुरस्कृत होने लगे। बिहारी सतसई की रचना के लिए उन्होंने मिर्जा राजा जयसिंह को निमित्त माना है। आम्बेर दरबार के अतिरिक्त बूंदी और जोधपुर के राज्यों से भी उनका सम्पर्क रहा था, जिससे निश्चय ही सामंती जीवन की चित्रोपयोगिता से उनका काव्य प्रभावित रहा।

बिहारी लाल स्वामी नरहरिदास जी के शिष्य थे। रसपूर्ण सखी भाव की श्रृंगारी भावना में उनकी विशेष आस्था थी। मंगलाचरण में ही उन्होंने श्रृंगार के मुख्य नायक-नायिका राधा-कृष्ण की युगल-छवि का चित्रण कर अपनी श्रृंगार प्रियता का परिचय दिया है। श्रृंगार वर्णन की प्रचलित परिपाटी के अनुसार बिहारी ने नायक-नायिका के लिए कृष्ण और राधिका का प्रयोग किया है। उनके राधा कृष्ण केवल वृन्दावन में ही रास रचाने वाले नहीं थे, वे आगरा और जयपुर की गलियों एवं रंग महलों में परस्पर छेड़छाड़ करते तथा भाँति-भाँति के खेल रचाते अंकित किये गये हैं। नायक नायिकाओं का वर्णन करते समय उन्होंने कृष्ण तथा अनेक पर्यायी शब्द जैसे मोहन, वनमाली, नन्दकिशोर, गोपाल, घनश्याम, लाल आदि का निःसंकोच प्रयोग कर अपनी विस्तृत चित्रयोजना का परिचय दिया है।

रीतिकाल की श्रृंगार परकता, राजाओं और सामंतों का कलात्मक परिवेश रहन-सहन का रंग-बिरंगा वातावरण तथा रानियों, सामंतनियों, पासवानों, डावड़ियों, नर्तकियों, गणिकाओं आदि के सतरंगे परिवेश ने कवि बिहारी को अधिक चित्रोपम बना दिया है। यही कारण है कि बिहारी सतसई चित्र योजनात्मक तत्वों से भरी पड़ी और मध्यकालीन ग्रन्थों में सर्वाधिक चित्रोपयोगी ग्रन्थ रहा है।

बिहारी सतसई का चित्रण

चित्रोपयोगिता के कारण बिहारी सतसई बहुचित्रित आधार ग्रंथों में प्रमुख रहा है। रीति कालीन सामंती विलासपूर्ण जीवन की झांकी बिहारी सतसई में सजीव एवं चित्रमय हो उठी है। मुगल दरबार में रहकर बिहारी ने मुगल तथा राजपूती वैभव को समीप से देखा था। उनका सजीव एवं सतरंगा चित्रण उनके दोहों में साकार हो उठा है। सतसई का एक-एक दोहा अत्यधिक चित्रोपयोगी है। चित्र गढ़ा करने के लिए ही मानो बिहारी ने दोहों की रचना की हो। सतसई का

कवि एक-उत्कृष्ट कोटि का चित्रकार भी है जो सजीव मानचित्रों के निर्माण में सिद्ध-हस्त है। यही कारण है कि सतसई को आधार बनाकर मुगल शैली, राजस्थानी शैली और पहाड़ी शैली मे असंख्य चित्र बने है, जिनके आधार पर बिहारी सतसई के चित्रयोजनात्मक तत्वों की सहज ही खोज-बीन की जा सकती है।

बिहारी सतसई का प्रथम चित्रण कब और कहाँ हुआ, बिना जानकारी के कुछ कह पाना कठिन है, किन्तु आम्बेर के दरबार में ऐसी परम्परा रही है, जिसने कला को प्रोत्साहन दिया। कहते है मिर्जा राजा जयसिंह ने अपने पुत्र रामसिंह की शिक्षा के लिए सचित्र सतसई का निर्माण करवाया। *बीकानेर के श्री मानधाता सिंह के* निजी संग्रह मे १६४७-४६ ई० का चित्रित बिहारी सतसई एक महत्वपूर्ण सग्रह है, जिसके बारे मे कहा जाता है कि वह आम्बेर शैली का मुगल प्रभाव से युक्त एक अनोखा सचित्र ग्रन्थ है। मेवाड़ के राणा संग्राम सिंह द्वितीय के समय मे सन् १६२२ मे जगन्नाथ कविराय द्वारा चित्रित बिहारी सतसई मेवाड़ शैली की *कलात्मक* देन है, जिससे एक एक दोहे के भाव को चित्रित किया गया है। बूँदी शैली और पहाड़ी शैली के भी अनेक लघुचित्र और सचित्र ग्रन्थ विदेशी और भारतीय सग्रहालयो एवं निजी सग्रह कर्त्ताओ के पास दृष्टव्य है।

बिहारी सतसई में चित्रयोजनात्मक तत्व

चित्र तत्व काव्य का प्राण होता है। भाव और अनुभूतियों की सहज अभि-व्यक्ति के लिए कवि चित्र भाषा का प्रयोग करता है। कवि अपने अनुभव के आधार पर चित्रोपयोगी शब्दों का चयन कर अपने भावो को शब्द चित्रों मे ढालता है और अपने कौशल एवं अभिव्यक्ति की क्षमता से उन्हें अत्याधिक ऐन्द्रियक एवं प्रभविष्णु बना देता है। काव्य और चित्रकला का यह सम्बन्ध अक्षुण्य है।

सामान्यतया चित्र दो प्रकार के होते हैं — १. *मानस चित्र और चाक्षुष चित्र*। मानस-चित्र कलाकार के मन मे घुमड़ने वाले मनोभाव है जो अभिव्यक्ति पाने के लिए छटपटाते रहते हैं। शब्द तथा रंग और रेखाओं के माध्यम से वे काव्य अथवा चित्रकला में साकार हो उठते हैं। *मानस-चित्र बड़े सूक्ष्म होते हैं।* कवि के मानस-चित्र अभिव्यक्ति के बिना दूसरे के लिए अज्ञात एवं अज्ञेय बने रहते है। उनको दूसरा नही देख सकता। कवि एवं चित्रकार उनको ज्ञात और ज्ञेय बना देता है। वास्तव मे तो कवि और *चित्रकार का अनुभव और आनन्द* उसकी रचना द्वारा निरू-पित होकर श्रोता और दृष्टा के रंजन और उपयोग की वस्तु बन जाता है। कवि शब्दों में अपने भाव अंकित करता है और चित्रकार रेखा और रंगों में। शब्द चित्रों में संवेदना के *सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव* को अंकित करने की क्षमता होती है, इसलिए वे अधिक संवेदनात्मक हो सकते हैं। काव्य का प्रमुख आधार है संवेदना और चित्रकला का है संवेग। भक्तिकालीन काव्य संवेदनात्मक अधिक है और रीतिकालीन काव्य

वस्तु परक एवं ऐन्द्रिक होने के कारण संवेगात्मक अधिक हैं । यही कारण है कि बिहारी सतसई चित्रयोजनात्मक तत्वों से भरपूर है । रीतिकालीन विलासमय दरबारी जीवन की ऐन्द्रियता ने तत्कालीन काव्य और चित्रकला को संवेगात्मक बनाने में विशेष सहयोग दिया है ।

विवेचन के आधार पर सतसई के काव्य चित्रों को दो भागो में रखा जा सकता है : १. लक्षित चित्रयोजना और २. उपलक्षित चित्रयोजना । डॉ० बच्चनसिंह के अनुसार बाह्य रेखाओं और वर्णों द्वारा काव्य के चित्र तत्व को तुरन्त लक्षित किया जा सके; उसे लक्षित चित्र योजना कहते हैं । लक्षित चित्रो के माध्यम से कवि का चेतन मन उद्घाटित होता है । संवेगात्मक या बहिर्मुखी ऐन्द्रिय चित्रोपमता के आधार पर कवि अपने काव्य को विभिन्न रेखा-चित्रो में सुसज्जित करता है, इसलिए लक्षित चित्र भी दो वर्गों मे रखे जा सकते हैं : १. रेखा चित्र और वर्णचित्र । काव्य मे उपलक्षित चित्रो को कवि अप्रस्तुत सदृश्य-विधान द्वारा सरस और मार्मिक अभिव्यक्ति देता है, अतः बिहारी की उपलक्षित चित्रयोजना उपमा मूलक जैसे सादृश्य विधान द्वारा अंकित हुई है ।

बिहारी सतसई के रेखाचित्र

चित्रकला में रेखा का महत्वपूर्ण स्थान है । वास्तव मे तो चित्रकला का आदि रूप रेखांकन ही है । चित्रकला मे रेखाकन चाक्षुप चित्र होते हैं, पर काव्य मे केवल स्थूल चाक्षुप चित्र ही नही होते उनमे शब्द स्पर्श, गंध आदि का समावेश होना आवश्यक है । बिना इन गुणो के केवल स्थूल चित्र उपस्थित कर देने से कविता नही बनती है । अभिधा शब्द शक्ति इसीलिए लक्षणा और व्यजना से गौण मानी गयी है ।

भक्ति कालीन कवियों ने जहां माधुर्य-शक्ति के आधार पर राधा-कृष्ण के रूप तथा उनकी लीलाओ के बड़े कोमल सात्विक और सजीव सवेदनात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत किए है, वही रीति कालीन कवियो ने लौकिक सामली शृंगारी भावनाओ के कारण सवेगात्मक चित्र प्रस्तुत करने में अपनी चमत्कारी कला का प्रदर्शन किया है । नायक-नायिका भेद के अन्तर्गत हाव-भावों का रेखांकन रीतिकालीन कवियो की अपनी निजी विशेषता रही है ।

बिहारी सतसई रेखा चित्रो का भण्डार है । कम से कम शब्दों में अपनी समाहार शक्ति के कारण उन्होने छोटे से दोहे में गागर मे सागर भरने का प्रयत्न किया है । उनका सिहली कलाकार जार्ज कीट की भाँति कम से कम रेखाओ में भावाभिव्यक्ति देने का सफल प्रयास रहा है । दोहे की लघु सीमा में न तो सूर के पदों की भांति रेखाओं का विस्तार हो सकता है और न ही चित्रों की सागोपांगता

का वर्णन, फिर भी बिहारी ने अपनी सतसई में इस कठिन कार्य को कर दिखाया है। उदाहरणार्थ यह दोहा प्रस्तुत है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ
सोहं करं भौहनु हँसे देन कहै नट जाइ ॥७२॥

प्रथम पक्ति चित्र की पृष्ठ-भूमि के रूप मे प्रस्तुत की गई है। बतरस लालच से शब्द और रस का चित्र तो नही उभरता, पर उसका संकेत अवश्य मिल जाता है। मुरली को छिपा कर रखना सौगन्ध खाना (निश्चय ही नायिका अपनी ही सौगन्ध खाती होगी। मेरे सर की कसम मेरे पास नही है) भौहों मे हँसना कृष्ण को निराश लौटता देखकर कहना अच्छा ले जाओ और फिर मुस्करा कर इन्कार कर देना आदि रेखांकन कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं और मन मे भावोद्रेक उत्पन्न करते हैं।

बिहारी सतसई में स्थिर और गत्यात्मक दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं। दोनो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बिहारी में चित्रयोजनात्मक तत्वों की भरमार है। कही रेखांकन वस्तुपरक है और कही संवेगात्मक। ऐसा उनका कोई दोहा नहीं जिसमे चित्रोपमता न हो। एक सीधे वस्तुपरक रूपचित्र का उदाहरण देखिए—

सीस मुकट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल।
इहि बानक मो मन सदा बसो बिहारीलाल ॥३०१॥

प्रस्तुत दोहे मे बिहारी ने चार सबल रेखाएँ अंकित कर गोपाल कृष्ण के स्थिर चित्र का उदाहरण प्रस्तुत किया है। कवि प्रार्थना करता है कि इस बालक मे अर्थात् (१) सिर पर मोर मुकट (२) कमर में काछनी (३) हाथ मे मुरली (४) और गले में वन माला धारण किये कृष्ण मेरे मन मे बसें। इसमे रेखाएँ अत्यधिक वस्तुपरक हैं, जो बिहारी की गोपाल कृष्ण के प्रति भक्ति भावना का परिचायक है।

आजकल चित्रकला में मॉडल को आधार बनाकर चित्रकार मे चित्रण करने की प्रवृत्ति रही है। बिहारी ने भी ऐसे अनेक स्थिर चित्रों का निर्माण कर चित्रयोजना का परिचय दिया है। नायिका दही की मटकी को छीके पर रखने की प्रक्रिया से उसके उभरे हुए स्तनों एवं कटि प्रदेश पर नायक की दृष्टि पड़ जाती है और वह नायिका को उसी मुद्रा में खड़ी रहने को कहता है—

अहै दहेड़ी जिन धरै, जिन तू लेहि उतारि।
नीके ह्वै छीके हुए, ऐसे ही रह नारि॥

वास्तव मे तो बिहारी ने अपने एक-एक दोहे मे चित्रोपमता का परिचय दिया है। जिसमें रेखांकन अत्याधिक सबल और प्रभावशाली बन पड़ा है। नायिका के

रूप सौन्दर्य चित्रण, एवं रीति कालीन सामन्ती परिवेश के चित्रण मे बिहारी ने अपने काव्य कौशल के साथ ही चित्रयोजनात्मक तत्वों का सहज ही परिचय दिया है ।

स्थिर चित्र ही नही वरन् प्रस्त व्यस्तता के चित्र भी सतसई मे देखे जा सकते है—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।
कहु मुरली, कहु पीत पटु, कहु मुकट बनमाल ।।१५४।।

इस दोहे मे नायिका राधा के लड़ैते दृगों के जादू की क्षमता का, जिसकी मार से लाल बेहाल हो गये हैं, कवि ने चित्रण किया है, बेहालो का दृश्य यह है कि कही उनकी मुरली पड़ी है, कही पीत पट पडा है और कही मोर मुकट तथा बैजयन्ती-माला । लड़ैते दृग कहने से ही राधा के सौन्दर्य को द्विगुणित प्रदीप्त करने वाली उनकी विशाल कटीली जादू भरी किशनगढ़ की चित्रकला सी आँखों का भान होता है । निश्चय ही इस दोहे में कृष्ण की प्रेम व्याकुलता का कुछ रेखाओ द्वारा एक अतिशय भव्य चित्र अंकित हुआ है ।

इस प्रकार रेखा चित्रों का बिहारी सतसई खजाना है : यह तो खांड की रोटी ही क्या चित्रों की माला है ? प्रत्येक दोहा एकाधिक चित्रो से सुसज्जित है। आधुनिक चित्रकार जार्जकीट तथा सूजा में कम से कम सशक्त रेखाओं में भाव अनुभावों के अंकन की जैसी कुशलता है वैसी ही समाहार शक्ति के लिए बिहारी भी प्रशस्त हैं । बिहारी के काव्यगत चित्रों मे रेखाओ का सम्पुंजन अत्यधिक साफ सशक्त नपा-तुला तथा प्रभावोत्पादक है । दोहे जैसे छोटे छन्द मे केवल हावो, अनुभावो को एकत्र कर स्थूल चित्र योजना ही बिहारी का माध्य नही रहा है, उन्होंने ऐसी चित्र योजना को अधिकतर लाक्षणिक और व्यजनात्मक बनाने का प्रयत्न किया है । ऐसी स्थिति मे उनके काव्य चित्र केवल रेखा चित्र मात्र न रहकर विशेष भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम बन गये हैं । बिहारी के रेखा चित्रो मे रूप सौंदर्य का सागोपांग चित्रण सूर की अपेक्षा बहुत कम हुआ है । दोहे की सीमा रेखा के कारण उन्होंने अधिकतर लघु-लघु रेखाओ मे नायिका की मनोरम चेष्टाओं को ही कलात्मक ढंग से अंकित किया है । इसलिए बिहारी सतसई मे अनुभावो के चित्रो की भरमार है । राजस्थानी और पहाड़ी चित्रकारो ने बिहारी सतसई को चित्रण का जो प्रमुख आधार बनाया है, उसका प्रमुख कारण यह भी है ।

बिहारी सतसई के वर्ण चित्र

भाषा मे जो स्थान अक्षर और स्वर का है, वही चित्रकला मे रंग का है । विभिन्न रंगों मे संयोजन और सुव्यवस्थित प्रयोग से चित्रकला की भाषा तैयार होती

है। काव्य और चित्रकला में रेखांकन प्रमुखतया रूप चित्र और वस्तु चित्र बाह्य ढांचा खड़ा करता है तथा रंग उसमे प्राण प्रतिष्ठा कर सुसज्जित करने मे सहयोग देता है। काव्य में ऐन्द्रियता (सैन्सुवसनैस) का तीव्र अनुभव रंग योजना के द्वारा ही होता है, क्योकि रंगीन उपकरणों से कवि और परिष्कृत, रुचि सम्पन्न पाठक एक प्रकार से रोमाच का अनुभव करते है। इसलिए काव्य मे भी रग योजना कम महत्वपूर्ण नहीं होती। कलाकार प्रकृति के विराट सतरंगे दृश्य से प्रत्येक समय प्रभावित होता रहता है. उसकी दृश्य चेतना रंगों के प्रभाव को सीधा ग्रहण करती है और अभिव्यक्ति के समय अन्तर्मन मे उपलब्ध रंग सवेदनात्मक चेतना अशत. अथवा समग्र बिम्ब रूपों मे छिटक पड़ती है। काव्य मे रंग योजना केवल रगों का नामोल्लेख नहीं है, बल्कि इसके द्वारा अभीसिप्त भावो की अभिव्यक्ति करना तथा उन्हें पाठक तक प्रेषणीय बनाना है। भावों को समृद्ध करने तथा काव्य मे व्यजकता लाने के लिए कवि रगों की भाषा का प्रयोग करता है।

भरत के नाट्य शास्त्र मे स्वाभाविक चार रंग माने गये है—श्वेत, नीला, पीला और लाल विष्णुधर्मोत्तर के 'चित्र-सूत्रम' अध्याय मे प्रमुख पांच रगों की चर्चा की है—श्वेत, पीत, पीलापन लिए श्वेत काला और नीला। वैज्ञानिक दृष्टि से आधुनिक कलाकार प्रमुख तीन रंग मानते है—लाल, पीला और नीला। इन्ही तीन मुख्य रंगों के मिश्रण से अन्य रग भी तैयार हो जाते है। काले और सफेद को वैज्ञानिक रग मानते हैं। पूर्ववर्ती आचार्यों ने तो स्वभाव मन-स्थितियों के निश्चित रग माने है। यहाँ तक कि गध और ध्वनि तथा विभिन्न भावों और अक्षरों तक के अलग-अलग रग माने हैं। प्रभावानुसार रंग उष्ण और शीत दो प्रकार के होते है।

चित्रकला की भाँति काव्य में भी कवि रंग योजना द्वारा काव्य चित्र में रंग भरकर उन्हे अधिक संवेदनशील बनाता है। अनुरूप वर्ण संयोजन विरोधी वर्ण संयोजन तथा वर्ण वैविध्य द्वारा कवि अपने काव्य के चित्रयोजनात्मक तत्वों को अधिक सतरंगा बना देता है। रंग योजना की दृष्टि से बिहारी सतसई भी महत्वपूर्ण कृति है। आम्बेर के दरबार में रहने वाले राजकवि बिहारी के वर्ण चित्रों की विविधता का कारण रंगों के प्रति उनकी ललक और विलासमय, रंगीन, राजधानी, सामंती जीवन का प्रभाव ही है। उन्होंने रंगो का चुनाव प्रकृति के कटे छटे सामन्ती परिवेश, नायक-नायिकाओं के अंग-प्रत्यगो की आभा एवं वस्त्राभूषणों से किया है। उन्होंने उपर्युक्त उपकरणों में बिखरे हुए नाना रंगों मे से कहीं पर नायिका राधा के सौन्दर्य को आकृष्ट बनाने के लिए अनुपम वर्ण योजना के द्वारा वर्ण चित्रों की सृष्टि की है और कही विरोधी रंगों के द्वारा नायक-नायिका के सौन्दर्य को चटकीला और चमत्कारपूर्ण बना दिया है।

अनुरूप वर्ण योजना

भक्ति काल की भांति रीतिकालीन में भी अनुरूप वर्णन संयोजन की प्रवृत्ति, काव्य और चित्रकला मे देखने को मिलती है। सामन्ती वातावरण में मिश्री तथा अनुरूपता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। बिहारी सतसई के अनेक दोहों में अनुरूप वर्ण संयोजन दृष्टव्य है। अनुरूप वर्ण योजना में बिहारी ने नायिका के अंग-प्रत्यंगों की आभा दीपशिखा की भांति जगमगायी है। वह पंचताले की हल्की और बारीक श्वेत साड़ी पहने हुए ऐसी प्रदीप्त हो रही है जैसे जल चादर से दीप शिखा हल्की हल्की जगमगाती रहती है।

> सहज सेत पंचतीरिया, पहिरत ग्रति छवि होनि।
> जल चादर के दीप लौ, जगमगाति तन जोनि ॥

प्रस्तुत दोहे मे बिहारी ने नायिका के सहज सौन्दर्य का श्वेत और स्वर्णिम रंगो के द्वारा जो वर्ण चित्र अंकित किया है, वह अनुरूप वर्ण योजना का मनमोहक चित्र है। गोरे शरीर पर श्वेत वह भी महीन साड़ी कितनी फबती है। उस साड़ी से नायिका की सोने सी काया झलक रही है, जैसे स्फटिक जल चादर से दीपक की ज्योति जगमगाती है। श्वेत गौर स्वर्णिम जल चादर तथा दीपशिखा जैसे शब्द अनुरूप रंग योजना के प्रतीक है।

इसी प्रकार प्रौढा, धीरा, खण्डिता नायिका राधा की उक्ति में नायक का रूप चित्रण अनुकूल वर्ण सयोजन का उदाहरण है—

> पलनुपीक अंजनु अधर धरे महावर भाल।
> आजु मिले, सुभली करी, भले बने हो लाल ॥

पलकों पर पान की पीक, अधरो मे लगा हुआ अजन और भाल पर लगा हुआ महावर, क्रमशः लाल, काला और गुलाबी रंग का बोधक है, जो अनुरूप वर्ण योजना के अन्तर्गत आता है।

अनुरूप वर्ण योजना द्वारा कवि मिलते-जुलते रगों के माध्यम से नायिका के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देना चाहता है। यह रंग-बोध और वस्त्राभूषणों का सामन्ती प्रयोग कवि ने बड़े करीब से देखा था। शाहजहा का शाही जीवन और मुगल खानदान के ऐश्वर्य को बिहारी ने देखा परखा। आम्बेर का दरबारी परिवेश भी मुगल खानदान से सम्बन्धित होने के कारण कम ऐश्वर्य शाली नही था। रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि का मुगल और राजपूत संस्कृति का मिश्रित प्रभाव बिहारी जैसे चितेरे कवि पर अवश्य पडा। नायिकाओं के रूप सौन्दर्य और मांसलता के चित्रण मे बिहारी ने कोई कमी नही छोडी—

> भई जुतन छवि बसन मिजी, बरनि सके सु न बैन।
> आंग ओप अंगी दुरी, आंगी आग दुरै न ॥

प्रस्तुत दोहे में विहारी ने अनुरूप रंग योजना के आधार पर नायिका के मांसल सौन्दर्य का मादक चित्रण किया है। नायिका चन्दन के रंग की आंगी पहने हुए हैं। कंचुकी और शरीर की आभा एक दूसरे से मिल गई है, पर नायिका के वक्ष अंगिया में छिप नही पाते है और मांसल सौन्दर्य फूट-फूट पड़ता है। रीति कालीन कवि चमत्कारी तो थे ही साथ ही सामन्ती परिवेश के चितेरे भी थे। बिहारी के काव्य में सामन्ती जीवन की लकदक का मनोहारी चित्रण देखते ही बनता है। वस्त्रों की भाति बिहारी ने आभूषणों के वर्णन मे भी स्वर्णिम रंग का विशेष प्रयोग किया है जो चम्पकमाल, सोन जुही स्वर्ण शलाका सी नायिका के अंग प्रत्यंग पर अनुरूप वर्ण संयोजन की सृष्टि करता है।

विरोधी वर्ण योजना

रीति कालीन कवियो की आस्था चमत्कार प्रदर्शन में अधिक थी। इस समय मुगलो के प्रभाव से सामती चमक-दमक शृंगार के प्रसाधनों [illegible]-सज्जाओं, मणि कुट्टिम की पच्चीकारी वेशभूषा और अलकारो की लकदल के कारण काव्य और चित्रकला में परिवर्तन आना अनिवार्य था। प्रतिकूल रगों के माध्यम से बिहारी जैसे कवियों ने अपने चमत्कार का ही प्रदर्शन नही किया, वरन् तत्कालीन सामन्ती परिवेश की इच्छाओं को भी उद्घाटित कर दिया है। यही कारण है कि इस समय के चित्रयोजनात्मक तत्व रंग बोध की विविधता के कारण अधिक आकर्षक और उद्दाम हो गये है।

बिहारी ने प्रतिकूल रग के द्वारा प्रिया के सौन्दर्य को अधिक चटकीला बनाने का यथा स्थान प्रयत्न किया है। उन्होंने पारस्परिक श्याम और स्वर्णिम रगों के प्रयोग द्वारा कई दोहो मे विरोधी वर्ण योजना का निर्माण किया है। सघन कुंज है, बादल छा रहे हैं तथा अंधेरी रात है फिर भी दीपशिखा सी ज्योति वाली राधा का सौन्दर्य छिप नही पाता—

सघन कुंज, घन घन तिमिर, अधिक अधेरी राति।
तऊ न दूरी है स्याम, वह दीपशिखा सी जाति॥

अभिसार हेतु उस दीप मुखी को अधेरे में भी लाना खतरे से खाली नही है। काली पृष्ठभूमि मे स्वर्ण रेख तथा दीप शिखा सी राधा का सौन्दर्य अत्यधिक चमक उठा है। विरोधी रगो से मधुर रूप नियोजन कवि की रस योजना का परिचायक भी है।

विरोधी वर्ण सयोजन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बिहारी का निम्नांकित दोहा है—

छिप्यौ छबीली मुँह लसै, नीले अंचर चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर॥

गोरे अंग प्रत्यंगों पर नीला आंचल अत्यधिक सुशोभित होता है। नायिका के रूप सौन्दर्य को द्विगुणित शोभायमान बनाने के लिए सूर, केशव, प्रसाद आदि कवियों ने भी इस प्रकार के विरोधी रंगो का प्रयोग किया है—

नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेणी पीठ रुलति झकझोरी (सूरदास)
नील निचोल दुराइ कपोल, बिलोकत ही करि श्रौलिक तो ही ।। (केशवदास)
नील परिधान बीच सुकुमार
खिला हो ज्यों बिजली का फूल (प्रसाद)

गौर वर्ण, नीले आंचल में विरोधी रंग तत्व के कारण आंखो को अधिक चमत्कृत करता है। उपर्युक्त दोहे में बिहारी ने पृष्ठभूमि में यमुना और उसमें झिलमिलाते हुए चन्द्रमा की उपमा देकर चित्रकारों के लिए सुन्दर स्थिर चित्र निर्माण का विषय प्रदान किया है।

निश्चय ही इस प्रकार के अन्य वर्ण चित्र भी बिहारी सतसई में सुन्दर बन पड़े हैं। राधा और कृष्ण की युगल जोडी ही विरोधी रंग-योजना की साक्षात् प्रतीक है। सावरे श्याम और गौरी राधा दोनों का काम्बीनेशन विरोधी रंग बोध का प्रतीक है, जिसको कवियो ने जी भर कर अंकित किया है।

तजि तीरथ हरि राधिका, तन दुति कर अनुराग ।
जिहि ब्रज केलि-निकुंज-मग पग-पग होतु प्रयाग ।।

सांवरे श्याम और गौरी राधा के लिए कवि ने प्रयागराज की कल्पना की है, जहाँ कृष्ण (यमुना) और राधा (गंगा) के अनुराग (सरस्वती) से ब्रज के बिहार-निकुंजों के मार्ग में पग-पग पर प्रयाग हो जाता है। फिर भी उसे त्याग कर तीर्थराज जाने की क्या आवश्यकता है ? तीन विरोधी रंगों अर्थात् श्याम, श्वेत और लाल के द्वारा कवि ने अपने रंग बोध और लाक्षणिकता का परिचय दिया है। वास्तव में तो बिहारी सतसई विरोधी रंग-संयोजन से भरी पड़ी है।

वर्ण मिश्रण

भक्ति कालीन कविताओं मे जहाँ रंगो की मौलिकता और सहजता दर्शनीय है। वही रीति काल तक आते आते लोक कलात्मकता को त्याग कर रंगो का भी नागरीकरण होने लगा। यही कारण है कि चित्रकला और काव्य के रंग अपनी सूचक अवस्था को त्यागकर अधिक संवेगात्मक होने लगे। रंगों का घोलमेल कर चमत्कार उत्पन्न किया जाने लगा। बिहारी दरबारी कलात्मक परिवेश में रहते थे अतः रंगों के मिश्रण की ओर उनका भी ध्यान गया। रंगों के आनुपातिक मिश्रण तथा रंगो की छायाओं की पकड़ मे अत्यधिक सतर्क रहते थे। यही कारण है कि सतसई में विभिन्न रंगों के मिश्रण की कला विशेष रूप से दिखाई पड़नी है। डा०

बच्चनसिंह का कहना है कि "वर्णों के मिश्रण में कवि को दुहरे दायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। एक ओर उसे चित्र विशेष के लिए अनुकूल रंगों का चुनाव करना पड़ता है और दूसरी ओर रंगों के आनुपातिक मिश्रण पर भी ध्यान देना होता है।' बिहारी का रंग पर ज्ञान तथा उचित रंगो के मिश्रण का प्रभाव सतसई के प्रथम दोहे से ही होने लगता है—

> मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
> जा तन की झांई परैं स्याम हरित दुति होइ।

प्रस्तुत दोहे मे कवि ने रंग-मिश्रण का उत्कृष्ट उदाहरण दिया है। कवि जिस सम्प्रदाय का अनुयायी था, उसमें राधिका जी ही प्रधान मानी जाती हैं, अतः उसने राधिका जी से अपनी भव बाधा हरने की प्रार्थना की है। कवि राधा के शरीर की गुराई की प्रशंसा करता है कि वे ऐसे सोने से रग की है कि उनकी आभा पड़ते ही श्री कृष्ण जी का श्याम रंग हरा हो जाता है। पीले और नीले रंग के मेल से हरेक रंग का निर्माण होता है। वर्ण मिश्रण के आधार पर कवि ने राधा की शोभा, सौन्दर्य और अंगद्युति का जो अलौकिक स्वरूप अंकित किया है, वह उनके रंग तत्व ज्ञान का परिचायक है। निश्चय ही इस प्रकार के चित्रयोजनात्मक तत्वों के लिए कवि तत्कालीन चित्रकारों से प्रभावित हुआ होगा। राधा के संसर्ग से कृष्ण जी की प्रसन्न मुद्रा तथा हरे रंग की झांई विशेष उल्लेखनीय है। नीले पीले लाल और हरे रंग का चित्र योजनात्मक बोध काव्य को अधिक ऐन्द्रियक बनाता है। इस दृष्टि से बिहारी का निम्नांकित दोहा विशेष उल्लेखनीय है—

> अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट जोति।
> हरित बांस की बांसुरी, इन्द्र धनुष रंग होति॥

प्रस्तुत दोहे में बांसुरी के हरे रग पर ओठ लाल, दृष्टि का श्वेत और काला तथा पीताम्बर का पीला रग पड़ता है तो इन रंगों के सम्मिश्रण से बशी इन्द्र धनुषी रंग की हो जाती है। निश्चय ही बिहारी के रंगयोजनात्मक तत्व कमाल के हैं। वर्ण तरंगों के द्वारा कवि ने श्री कृष्ण के रंगीले व्यक्तित्व तथा उनकी मोहक भाव-भगिमा की जो व्यंजना की है वह रंग तत्व की उत्कृष्ट कृति है। इस प्रकार से वर्ण मिश्रण के कितने ही उदाहरण बिहारी सतसई में है। मिश्रित नए रगो का ज्ञान भी उनकी सतसई से होता है। ताफ्ता, धूप छांही जैसे मुगल प्रभाव से युक्त रगों का प्रयोग सामंती वातावरण में विशेष दृष्टव्य है।

बिहारी के उपर्युक्त वर्ण चित्रो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बिहारी का रंग बोध प्रधान एवं प्रभावशाली रहा है। इनके अधिकतर दोहे वर्ण चित्रों और रेखा चित्रों के अनुपम उदाहरण है। रंग तत्व की गरिमा के कारण ही बिहारी के

दोहों में चटकीलापन है। उन्होंने अधिकतर श्वेत, पीला या स्वर्णिम लाल नीला आदि रगो की योजना अपने काव्य में की है—जिनमें शब्दावली इस प्रकार है—

पीला या स्वर्णिम—सेनजुही, दीपशिखा, कनक गात, केशर, पीत पट, बीजुरी, चम्पकमाल, पावक भर, दावानल जातरूप आदि।

श्वेत—सेत पचतोरिया धोती, जरीकोर, कलानिधि, जन्हाई, चन्दन उज्जवल आदि।

लाल—सुरग, मदलाली, अरुन, मोलश्री की माल, रोली, वारुनी, पीक, महावर, बिम्बाफल आदि।

नीला—नीला अचल कालिन्दी, नीलाकाश आदि।

काला—श्याम, अधियारी रात, बिथुरे सुथरे बाल, अजन, कालिन्दी, परछाई आदि।

बिहारी ने उपर्युक्त रगो के अतिरिक्त भी हरा, केशरिया, कसूमल, धूप छाह या तापता आदि मिश्रित रगो का भी यथास्थान प्रयोग किया है।

बिहारी सतसई में उपलक्षित चित्रयोजना—उपलक्षित चित्रयोजना अर्थात् इनडायरेक्ट इमेजरी की पाश्चात्य साहित्य मे विस्तार से चर्चा हुई है। भारतीय काव्य अलकारों के माध्यम से उपलक्षित चित्रयोजना पर टिका हुआ है। कवि भावो को समूर्तता देने के लिए अलंकारों का सहारा लेता है। सादृश्य मूलक और विरोधी अलकारों के सहयोग से कवि अपनी बात को कहने मे समर्थ होता है। रीति काल तो अलकार युग ही कहलाता है, अत· बिहारी के दोहों मे अलकारो के माध्यम से उपलक्षित चित्रयोजना का महल खडा करने की जो सामर्थ्य है वह बेजोड है। बिहारी ने अपनी समाहार शक्ति के माध्यम से छोटे से दोहे मे अलंकारो के माध्यम से ऐन्द्रियानुभूति को ही जागृत नही किया, वरन् गूढ विचारो को रूपायित भी किया है। उन्होने जिन अप्रस्तुतो का चुनाव किया है वे तत्कालीन समाज के जाने-माने चित्रोपम उपकरण रहे है। जिनके रूप सादृश्य, गुण सादृश्य और धर्म सादृश्य के माध्यम से जो चित्रयोजनात्मक तत्व उभरे हैं, उन्होने बिहारी सतसई को चित्रो की माला बना दिया है।

लटपटाति सी ससमुखी, मुख घूंघट पट ढाकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखे झाकि॥

प्रस्तुत दोहे में झरोखे मे नायिका का झाक झट चला जाना अग्नि की लपट-सा मालूम पडता है। इस गत्यात्मक चित्र के अप्रस्तुत में रूप धर्म और गुण का साम्य देखते ही बनता है। सोने सी नायिका के रूप को उजागर करने मे पावक झर सुन्दर उपमा है। आग का धर्म है ताप प्रदान करना, अत: नायिका के रूप के

ताप से नायक विरह अग्नी मे जलने लगता है। इस दृष्टि से यह अप्रस्तुत नायिका की रूप चेतना को पाठक के मन में अच्छी तरह उभार ही नही देता है, वरन् उन्हें भी रागानुभूत कर देता है।

इस प्रकार अप्रस्तुत अपनी रागबोधात्मक क्षमता के कारण काव्योपम बिम्ब निर्मित करते हैं। बिहारी सतसई में अप्रस्तुत विधान के माध्यम से पारस्परिक और टटके बिम्ब बहुलता से उभर कर आए हैं। कटीली भौंहें, जलचादर के दीप लौ, जोन्ह छांह सी होति, नागिन लौं, दुपहरिया से फूलि, नील मणि सैल, मनमथ नेजा नोक सी, सौन जुही सी, सुरतरू की मनु सिन्धु में लसति सपल्लव डारि, चदमुखी आदि कितने ही सादृश्य मूलक बिम्बो से सतसई चित्रपयोगी बन गयी है।

रीतिकालीन कवियो ने चमत्कार प्रदर्शन में अधिक रुचि ली है, अत: बिहारी के काव्य में भी विरोध मूलक अलंकारों के माध्यम से चमत्कारी बिम्ब भी कम उभर नही आए हैं। अन बड़े-बूड़े तिरे जे बूड़े अब अंग, ज्यों ज्यो बूड़े स्याम रंग त्यौ त्यौं उज्जवल हीइ, निसि अंधियारी पीलपट पहिरि चली पिय गेय, कहौ दुराई क्यो दुरे दीपशिखा सी देह, जैसे उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

शब्दों के प्रति बिहारी कैसे रीतिकालीन कवियों का विशेष मोह रहा है। यही कारण है कि शब्दालंकारों की अनप्रासी छटा से वे भी नहीं बच पाए हैं। शब्दों की ध्वन्यात्मकता काव्य में एक अनुगूंज पैदा करती है, जिससे उनकी प्रतिध्वनि काव्य के मूल सवेगों पर तो चोट करती ही साथ ही ध्वनि चित्रो की निर्मिति भी करती है। ये ध्वनि चित्र कवि की चित्रयोजनात्मक शक्ति का परिचय देते हैं। बिहारी मे ध्वनियों का सगीत किसी प्रकार कम नही है। उन्होंने तीन प्रकार की ध्वनियो का प्रयोग किया है—

१. रणनात्मक २. अनुकरणात्मक और ३. व्यजक।

बसंत का चित्रण करते समय बिहारी का शब्द रणन भावानुकूल बन पड़ा है—

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गंध।
ठौरि ठौरि झौरत झपत, भौंर-भौंर मधु अंध॥

झौरत, झंपत, भौंर-भौंर जैसे शब्दों में अनुप्रास की छटा के साथ ही ध्वनि चित्रण की सशक्त सामर्थ्य है। बिहारी ने चमत्कार पैदा करने के लिए ऐसे ध्वनि चित्रों के निर्माण के लिए ध्वन्यात्मक शब्दावली का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है रनित भृंग घटावलि, कुंजर-कुंज समीर, चिलक चिकनई चटक स्यों, झमकि रुके न झीने चीर, नीठि नीठि भीतर गयी, डीठि डीठि सौ जोरि, कांटे सी कसकति हिये वहै कटीली भौंह, जैसे ध्वनि चित्रों की निर्मिति बिहारी सतसई की विशेषता

इस प्रकार बिहारी सतसई अनेक प्रकार के चित्रयोजनात्मक तत्वो का खजाना है जिसमें रीतिकालीन सामंती समाज की झाकी देखते ही बनती है। बिहारी के चित्र योजनात्मक तत्व नागरी प्रभाव से युक्त हैं, जबकि रीतिकालीन मतिराम जैसे कवियों में ग्रामीण तत्वों का समावेश मिलता है । बिहारी ने अपनी चित्रयोजना के लिए महलो, हवेलियों, सरोवरों, बाजारो, उपवनों आदि से उपकरणों को चुना है, जबकि मतिराम जैसे कवि ने खेतों, खलिहानों, गांवो, जंगलो से अपने उपकरण चुने हैं। बिहारी सतसई के सचित्र ग्रन्थों के आधार पर उनकी चित्रयोजना का विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है।

□

भक्तवर नागरीदास की रंग योजना

राजस्थानी चित्रकला मे किशनगढ़ शैली का विशेष महत्व है। इस शैली की अनेक विशेषताएँ हैं, जो इसे विभिन्न शैलियो में अलग ही नही, वरन् उच्च आसन पर आरूढ़ करती हैं। नर-नारियो के अग-प्रत्यंगों का अलौकिक अकन, प्रकृति के विराट रंगमंच का सतरंगा चित्रण रंगों का मिश्रित वैभव, राधा-कृष्ण सम्बन्धी विषय का अनूठा और काव्यात्मक अकन आदि अनेक निजी विशेषताओ ने किशनगढ़ की चित्रकला को ससार प्रसिद्ध बना दिया है।

इस प्रसिद्धि को चरमोत्कर्ष पर पहुचाने का श्रेय किसी एक व्यक्ति को नही, वरन् तीन व्यक्तियो को है। उनमे से प्रथम हैं—कवि, चित्रकार एवं भक्त और कला प्रेमी राजा सावतसिह अर्थात् नागरीदास जी। द्वितीय उनकी प्रिया पासवान बणीठणी, जो अपने अद्वितीय रूप-सौंदर्य और कलात्मक बोध के कारण राधा के चित्रण की *आदर्श मॉडल बनी। तृतीय हैं उनके दरबारी चित्रकार मोरध्वज* निहालचन्द। तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध और सहयोग ने काव्य, संगीत और चित्रकला की त्रिवेणी बहा दी।

किशनगढ के राजा सावंतसिह (सन् १६६६-१७६४) अर्थात् भक्तवर नागरीदास का हिन्दी साहित्य के इतिहास में नही वरन् चित्रकला के इतिहास में भी महत्वपूर्ण स्थान है। अपने पूर्वजो की भाँति कलाओं के प्रति सावतसिह की प्रारम्भ से ही रुचि थी। कुंवर पदी के समय से ही सावतसिह पर अपने पिता राजसिह का पूर्ण प्रभाव पडा। उनकी शिक्षा-दीक्षा पिता की रुचि के अनुकूल कलात्मक वातावरण में हुई। संस्कृत एवं संगीत के अभ्यास के साथ ही इन्होने रेखांकन में भी अपना हाथ साधा। इनके द्वारा अंकित चार चित्र किशनगढ दरबार के निजी संग्रह मे उपलब्ध हैं।

काव्य के प्रति उनकी प्रारम्भ से ही रुचि थी। सन् १७२३ से २१ तक उन्होने मनोरथ मंजरी, रसिक रत्नावली और बिहारी चन्द्रिका की रचना कर कृष्ण-भक्ति काव्य के वैभव मे विशेष योग दिया। कलाओं मे विशेष अभिरुचि होने के कारण वे राज्य वैभव के प्रति उदासीन थे। वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर उन्होंने काव्य, संगीत और चित्रण द्वारा अपने आपको कृष्ण भक्ति पर न्यौछावर कर दिया। यही कारण है कि उनके काव्य मे सतरंगी चित्रोपमता और प्रेरित

चित्रकला में काव्य का सा आनन्द आता है । स्वयं चित्रकार होने के कारण उनके द्वारा प्रेरित और घोषित किशनगढ़ की चित्रकला आज संसार प्रसिद्ध हो गयी है । यही कारण है कि नागरीदास जी के काव्य का रगयोजनात्मक अध्ययन काव्य और चित्रकला दोनो के पारस्परिक सम्बन्धों का स्पष्टीकरण करता है ।

काव्य मे ऐन्द्रियता का तीव्र अनुभव रंगयोजना के द्वारा ही होता है, इसलिए चित्रकला की ही भांति काव्य मे भी रंग संयोजन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । इस दृष्टि से भक्त, कवि एवं चित्रकार नागरीदास के काव्य का रंगयोजनात्मक अध्ययन तो और भी विशेष महत्व का है । चित्रकला के प्रभाव के कारण उनके काव्य मे किशनगढ शैली के रंगो की छटा बिखरी पड़ी है । उनके नगर समुच्चय ग्रन्थ मे उनकी रग-योजना देखी जा सकती है ।

नागरी दास जी कवि के साथ-साथ चित्रकार भी थे, इसलिए वे जानते थे कि शब्द चित्र किस प्रकार के होने पर कूंची से खीचे जाने योग्य हो सकते हैं और सतरगे वातावरण को अकित करने के लिए किस प्रकार के रगों की योजना उचित है ? चित्रकार होने के कारण वे सहज भाव से रंगों के प्रति अधिक जागरूक थे । उनके छंदो, पदो आदि में चित्रकला के अनेक उपकरण भरे पडे हैं । उनका काव्य चित्रमय है । किशनगढ की चित्रकला को नवीन मोड देने का श्रेय भक्तवर नागरी दास जी को है । उनके काव्यगत रेखा-चित्रो एवं वर्ण-चित्रों के आधार पर निहाल चन्द्र द्वारा बनाए गये चित्र अधिक भाव परक एव मनोहारी है । नागरी दास जी समय किशनगढ की चित्रकला का स्वर्ण युग था । उस समय के चित्रो में स्त्री पुरुषो के अग प्रत्यंगो की बनावट, प्रकृति चित्रण रगो की अनोखी छटा नागरीदास जी के काव्य गत वर्ण चित्रो के अनुकूल है ।

किशनगढ शैली में रंगो का अपना खेल है । राधा-कृष्ण के सुकोमल भावो को चित्रित करने के लिए कलाकार निहालचन्द्र ने अधिकतर हल्के रंगो का प्रयोग किया है । सफेद और गुलाबी यहा के प्रमुख रंग हैं । सलेटी और सिन्दूरी रंगो का प्रयोग भी बहुलता से हुआ है । इस प्रकार के रंगों का प्रयोग कलाकारों ने नागरी दास जी के काव्य से ही ग्रहण किया है । हो सकता है यह आदान-प्रदान पारस्परिक हो । नागरीदास जी काव्य में अनुरूप वर्ण संयोजन ही अधिक है, इसलिए किशनगढ की चित्रकला में भी वर्णों की अनुरूपता विशेष उल्लेखनीय है । कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है—

राधा और कृष्ण के रूपांकन के लिए श्वेत और गुलाबी वस्त्राभूषणों का अंकन कवि ने इस प्रकार किया है—

> कुंजते आवत हैं जमुना तटि नागर नागरि संग लियें ।
> चंद की चादनी छाय रही, है तैसेई स्वेत सिंगार कियें ।।

गावत राग जमावत सहचरि आवत आसव प्रेम पिये ।
देखि लगी नौका सरिता तट नागरिया आनन्द लिये ।।

प्रस्तुत पद में कुंजों का हरा-भरा चित्रण और नागर नागरी का यमुना तट की ओर आने का मादक-मंद गत्यात्मक चित्र है। चन्द्रमा की श्वेत चांदनी छिटकी हुई है तथा अभिसार हेतु वैसे ही श्वेत वस्त्राभूषणों से उन्होंने श्रृंगार सजा रखा है। पद के आधार पर बना किशनगढ़ शैली का यह चित्र जो महाराजा किशनगढ के निजी संग्रह में है, कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। श्वेत और गुलाबी वस्त्राभूषणों की छटा अद्वितीय है, साथ ही प्रकृति का सतरंगा वातावरण शैली का वर्णयोजना का अनुपम उदाहरण है।

नौका बिहार नागरी दास जी का प्रिय विषय रहा है। रूपनगढ और किशनगढ़ में अनेक ऐसी झील और सरोवर है, जो नौका बिहार हेतु उपयोगी रहे हैं, प्रकृति के सुरम्य स्वच्छंद सतरंगे वातावरण में राधा-कृष्ण का नौका बिहार वर्ण चित्रण का प्रमुख आधार रहा है—

> बिहरत नवका बैठ बिहारी ।
> जमुना जगमग जोन्हि जामिनी, कमल फूल सुखकारी ।।
> वृन्दावन की तलहटी डोले जमुना तीरे तीर ।
> जटित स्वेत नव नाव बैठि दोऊ सांवल गौर सरीर ।।

श्वेत आकाश, सांवरे और गौरे शरीरों का चित्रण रंग योजना के विरोधी वर्ण संयोजन का प्रतीक है, किन्तु किशनगढ शैली में मेवाड़ की भांति लोक कलात्मक सूचक रंगों का प्रयोग न होकर हल्के संवेदनात्मक रंगों का प्रयोग हुआ है। नागरी दास जी के काव्य में स्थान-स्थान पर यही संवेदनात्मक रंग योजना देखने को मिलती है, जिसका अध्ययन किशनगढ़ की चित्रकला के आधार पर किया जा सकता है।

नागरीदास जी ने रंगों का चयन प्रकृति, मानव शरीर, वस्त्राभूषण तथा अन्य उपकरणों से किया है। प्रायः संध्या, चांदनी, कुंज सरोवर, कमल आदि उनकी रंग योजना के प्रतीक हैं। कविता के लिए विषय भी उन्होंने भोरलीला बाबस पच्चीसी, सांझी के कवित्त, चांदनी के कवित्त, वन-विनोद आदि चुने हैं। इन पदो को आधार बनाकर किशनगढ के चित्रकारों ने रंग संयोजन का अनूठा प्रयोग किया है। राधा कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य में नील गौर शरीर तथा गुलाबी होठ, एडी, हथेली आदि का चित्रण काव्य में यथा स्थान हुआ है। 'हाटक बेल सी द्युति ज्यों तन मोती' 'सांवल गौर शरीर' 'फूलफरी हास में', आदि प्रयोग शारीरिक रंग-योजना के सुन्दर उदाहरण हैं। रेखा-चित्र और वर्ण-चित्रों का सुन्दर समन्वय नागरी दास जी के काव्य में देखते ही बनता है। रेखाओं वर्णों प्रकृति चित्रण तथा नायिका की चेष्टाओं के अंकन का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

कालिंदी के तट हाटक बेल सी न्हाय कछु कढि ठाढिए होती
भीजिके वार सगे सटकारे श्रो ताय दिये दुति ज्यों तन मोती
देत गुलाबहि बेरि लगावति नागर ऐसी प्रवीन है कोती ।
जोरत नैन मरोरत मोहनि चीरत चित्त निचोरत धोती ।।

यह सद्यस्नाता नायिका के रूप सौन्दर्य का तथा उसकी कार्य विदग्धता का रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से युक्त संवेगात्मक रंगीला लक्षित चित्र है। सटकारे भीगे बालों मे से मोती की भांति चमकती हाटक बेल सी राधा की देह और नैन मिलाकर मोहि मरोड कर, धोती निचोड़ने की चेष्टा भला किसके चित्त को नही चीर डालेगी। उपर्युक्त चित्र मे रग युक्त ऐन्द्रियता बरवश ही चित्त को मोह लेती है। अन्तिम पंक्ति मे चार सबल तथा सुस्पष्ट रेखाओ मे कवि ने राधा की कार्य विदग्धता का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।

कवि एवं चित्रकार नागरी दास जी ने वस्त्राभूषणो के अंकन में हल्के रंगो का प्रयोग किया है। लहरिया चुनरी जरतारी सारी, तारकसी वस्त्र, जवाहिर, मोती आदि मे कवि की रगयोजना मोहक बन पडी है --

चटक मटक कर टहरियम, ओढि लहरिया चीर
गयी लहरिया करि दृगनि, मारि महरिया तीर ।।
जरतारी की सारि को, अंग जवाहिर
मोतिन की आग महताब उनहारी है ।।

यह सौभाग्य की बात है कि उपर्युक्त भावाभिव्यंजना एवं रंग योजना किशनगढ की चित्रकला मे सहज ही देखी जा सकती है। काव्य और चित्रकला का समन्वय बेजोड है।

कृष्ण के वस्त्रो मे पाग (फेंटा) के अलबेले पेचो का लपेटा, नागरी दास जी के काव्य और निहाल चन्द्र के चित्रो की विशेष देन है, जिसमे उसके बंधेज और सांकियानी हल्के रगो की आभा दर्शनीय है। नागर दास जी ने फेंटे के बधेज का निम्नांकित चित्रण कर किशनगढ की चित्रकला को मुगल प्रभाव से छुटकारा दिला कर ठेट राजपूती वेष-भूषा से परिपूरित किया है—

बैना भाल बनाय बहुरि मुख कमल निहारत
उत फैंटा सिर पीत झुकत कछु प्रिया संवारत
वेचन की चहुं ओर मेड़ ओडनि लचि ढौंही
सुन्दर करन बनाय चन्द्रिका धरी ढिढोंही
रतन पेच रचि बाध्यों हरि के अतिरग मीनों
छुटी किरण चहुंकेर घेर छबि मंडल कीनों ।।

फेटे का पीत रंग, रत्नों के पेच की श्वेत आभा तथा किरण मण्डल का स्वर्णिम अंकन काव्य और चित्रकला में समानता से दृष्टव्य है। चन्द्र की सी कान्ति हीरों की झलमलाहट, मोरछल, सूरज मुखिया, पानदान-बीरा, धूपदान कुंज भवन की शोभा, रंग महल छज्जे छतरियां आदि उपकरणों के चित्रण मे कवि नागरी दास जी एवं चित्रकार निहालचन्द ने अनुकूल रग योजना का सुन्दर समन्वय कर काव्य और चित्रकला को रंगीन बना दिया। निश्चय ही नागरीदास जी के वर्ण चित्र अत्यधिक प्रभावशाली है। जिनके प्रभाव के कारण किशनगढ़ की चित्रकला भारतीय कला मे उत्कृष्ट स्थान बना सकी है।

राजस्थान के त्यौहार, उत्सव रंगीले होते हैं, गणगौर, तीज दशहरा, दीपावली होली रंग और उमंग भरे त्यौहार हैं। इनके चित्रण मे कवि और चित्रकारो की रग योजना अनोखी एवं मनोहारी है। नागरीदास जी के सांझी लीला दीपोत्सव एवं होली के पदों में रंगों की वर्षा ही होती है। उत्सव माला सांझी के कवित्त, होरी के कवित्त को आधार बनाकर निहालचन्द ने भी अपने प्रिय स्वामी के भाव चित्रो को रंगों मे साकार कर दिया है। दीपावली के वर्ण चित्रों मे रगो की अनुरूप वर्ण संयोजना दर्शनीय है—

सुन्दर सुघर स्याम राधा ठकुराइन जू
जोरी जग भूपण सुखानन्द अगमगी
तारकसी बसन जवाहिर सी जेब लसी
बैठे कुर्सी मे प्रीति मीतन सगमगी ।।
जलफूती समियाने मसंदान किस्त सोज
नागर अगर धूमि घूंघरी रगभरी .
दिये दीप माल छवि छूटे जान जंत्रजाल
अजब जुलुम जति जीनत जग मगी ।।

इस पद मे मुगल दरबार के वैभव का अत्यधिक प्रभाव है। अनुरूप रंगों की करामात इतनी प्रचुर है कि सुनहरी सकदक में आंखे चौंधिया जाती है। तारकसी और जरबफनी वस्त्रों जवाहिरातों मे लदे राधा कृष्ण दीपावली पर छूटी हुई फुलझड़ियां आदि के वातावरण जीनत के समान जगमगा रहा है। उपर्युक्त पद पर आधारित निहालचन्द द्वारा निर्मित चित्र को देखकर पद के राजसी वैभव को भली प्रकार समझा जा सकता है।

किशनगढ के काव्य और चित्रकला मे अत्यधिक समता रही है। काव्य की आत्मा चित्रो मे बोलती है और चित्रों के रेखा और रंग काव्य में मुखर हो उठें हैं। सांझी लीला तो उत्सव ही रंगो का है। आसोज मास मे पांच दिवस तक लडकियों द्वारा सांझी लीला करना, अर्थात् अनेक रंगो से चौक पूर कर सांझ बनाना सतरंगे

रंगों का रंगीला खेल है। नागरीदास जी ने सांझी लीला के अनेक पद लिखे हैं, जिनमें विभिन्न चटकीले रंगो का सुन्दर संयोजन दृष्टव्य है। उन पदों के रंग संयोजन को चित्रों के द्वारा भली प्रकार समझा जा सकता है। निहालचन्द ने सांझी लीला के चित्रो में सिन्दूरी, हरे, केसरिया, श्वेत, गुलाबी, सलेटी आदि रंगों का जो पेटर्न प्रस्तुत किया है, वह अत्यधिक सतरंगा है। सांझी लीला के पदों से ही प्रभावित होकर निहालचन्द जैसे कलाकारों ने किशनगढ़ शैली में संध्या का मोहक सतरंगा चित्रण किया है। निश्चय ही चित्रकार को काव्य की यह बहुत बड़ी देन है। किशनगढ़ शैली के चित्रों का अध्ययन नागरीदास जी के काव्य के बिना अधूरा और उनके काव्य का अध्ययन चित्रकला के बिना पंगु है।

□

कृष्ण भक्ति आन्दोलन और कलाओं का उन्मेष

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में कृष्ण का व्यक्तित्व अत्यधिक विलक्षण रहा है। प्राचीन साहित्य मे उनकी महिमा सर्वत्र व्याप्त है। श्रीकृष्ण के सर्वांगीण अध्ययन के लिये भारतीय भक्ति साहित्य का अध्ययन नितान्त आवश्यक है, क्योंकि मध्यकालीन भारत मे धार्मिक आन्दोलन १३ वी शताब्दी मे १६ वी शताब्दी तक अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुके थे। यह तीन चार सौ वर्षो का काल धार्मिक आन्दोलन का काल है। अपनी माधुर्य भावना के कारण विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों में कृष्ण भक्ति आन्दोलन का सर्वोपरी स्थान है। सतरहवी शताब्दी से तो कृष्ण भक्ति परम्परा को धर्म मे प्रमुख स्थान दिये जाने लगा। कृष्ण भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तन प्रचार एवं प्रसार में कुछेक महान ग्रन्थों तथा ऐसे विशिष्ट व्यक्तियो का योगदान रहा है, जिन्होंने अपने सम्प्रदायों की स्थापना कर भक्ति-मार्ग में भगवान कृष्ण का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित किया और उसके आकर्षण द्वारा समाज को सायुज्य मुक्ति का मार्ग दिखलाया।

ग्रन्थ : जिनमें कृष्ण का स्वरूप मुखर हो उठा

कृष्ण के व्यक्तित्व की चर्चा प्राचीन समय मे ही मिलती है। उनका प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद मे मिलना है तथा उन्हे आंगीरस ऋषि कहा गया है। श्री कृष्ण के गुणों का वर्णन महाभारत में विस्तार से प्राप्त होता है। "हरिवंश पुराण" जो एक प्रकार से महाभारत का ही परिशिष्ट है कृष्ण जीवन का पूर्वांश विस्तार से प्रस्तुत करने वाला ग्रंथ है। "भागवत पुराण" सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमे कृष्ण के सम्पूर्ण चरित्र का विस्तार से अकन हुआ है। १२ वी १३ वी शती के आसपास कृष्ण भक्ति का जो महत्वपूर्ण प्रेममय स्वरूप समाज में प्रतिष्ठा पाने लगा था उसका हरिवंश, विष्णु पुराण और विस्तार से भागवत पुराण मे विशेष मिलता है। भागवत पुराण अत्यधिक विस्तृत और सांगोपांग धार्मिक ग्रन्थ है जिसने कृष्ण के माधुर्य पक्ष को विस्तार देने में विशेष योगदान दिया है। महाभारत से लेकर पौराणिक युग तक जितना भी कृष्ण का विवेचन हुआ है, वह सब समन्वित रूप से श्रीमद्भागवत मे मिल जाता है। महाभारत मे कृष्ण "भागवत धर्म" के इष्टदेव के रूप मे आए हैं, उसको भागवतकार ने विस्तार दिया। श्रीमद्भागवत में कृष्ण के जिस व्यापक स्वरूप को लिया है उसे परवर्ती कवियों, भक्तो एवं आचार्यों ने

[illegible] सिद्धान्तों के स्थापन में इसे आधार ग्रन्थ माना है। संस्कृत [illegible] कृष्ण के माधुर्य भाव को आधार बनाकर सर्वप्रथम १२ वीं शती में जयदेव ने "गीतगोविन्द" की रचना की। १२ वीं शती तक प्रमुखतया शिव-पार्वती ही श्रृंगार के नायक-नायिका थे। वैष्णव-भक्ति के प्रभाव से दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ और जयदेव ने कृष्ण तथा राधा के रूप में काव्य जगत को नवीन नायक-नायिका प्रदान किये। भगवान कृष्ण की भक्ति एवं श्रृंगार का उदात्त अंकन कर जयदेव ने जिस माधुर्य रूप को प्रतिष्ठित किया वह परवर्ती कवियों, चित्रकारों भक्तों आदि के लिये आधार बन गया। इसी परम्परा में लोक भाषा की सरसता को अपना कर चौदहवीं, पन्द्रहवीं शती में विद्यापति ने असंख्य पद लिखकर समाज में कृष्ण-भक्ति स्वरूप को अंकित किया। "कृष्ण-भक्ति आन्दोलन के माधुर्य पक्ष का विस्तार एवं प्रचार करने में "ब्रह्मवैवर्तपुराण" और "गर्ग संहिता" का योग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इन ग्रन्थों ने कृष्ण के साथ राधा को प्रशस्ति देकर जो कार्य किया है वह तत्कालीन ग्रन्थों की तुलना में विशेष महत्व का है। आधुनिक वैष्णव सम्प्रदायों में भागवत के बाद सबसे महत्वपूर्ण पुराण ब्रह्मवैवर्त है। श्रृंगारी वैष्णवता अपने उन्मुक्त रूप में इसी पुराण में व्यक्त हुई। राधा की कल्पना ने इस पुराण के प्रसंगों को अधिक माधुर्य पूर्ण बना दिया है। ब्रह्मवैवर्त में राधा-कृष्ण की लीलाओं का विस्तृत उल्लेख है, निश्चय ही कृष्ण भक्ति आन्दोलन के स्वरूप को दृढ बनाने में इन ग्रन्थों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। "भक्तिरसामृतसिन्धु' ने कृष्ण के माधुर्य भाव को शास्त्रीय प्रतिष्ठा देकर आन्दोलन को विशेष दिशा प्रदर्शित की। हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों ने भक्ति की जो अजस्त्रधार बहायी है वह किसी से छिपी नहीं है। सूरदास और अन्य भक्त कवियों के महान ग्रन्थ इस कथन के साक्षी है। यद्यपि कृष्ण [illegible] महाकाव्यों का अभाव हिन्दी में खटकता ही रहा, पर फिर भी छोटे-छोटे अनेक काव्यों, पदों एवं मुक्तकों के विस्तृत सृजन से कृष्ण-भक्ति आन्दोलन की जड़ों को निःसन्देह दृढ बनाया है। भक्तिकाल से भी अधिक कृष्णपरक रचनायें रीतिकाल में भी लिखी गई। श्रृंगार की दिशा में रीतिकालीन कृष्ण काव्य द्विविध रूप में सृजित हुआ था, जिसका एक स्वरूप भक्ति-काव्य और दूसरा नायक-नायिका भेद का था। संक्षेप में उपर्युक्त ग्रंथों एवं काव्[illegible] ने कृष्ण-भक्ति आन्दोलन के प्रचार एवं प्रसार में [illegible] दिया है।

व्यक्तित्व एवं सम्प्रदाय

अन्य आल्हादाकारी गोपी स्वरूपा शक्तियों से परिवेष्टित रहते हैं—निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्यदेव हैं। निम्बार्काचार्य जी ने कृष्ण के साथ राधा को भी महत्व दिया, जिससे ज्ञात होता है कि उनके सम्प्रदाय में भगवान को माधुर्य तथा प्रेम स्वरूपा शक्ति राधा की उपासना पर भी विशेष बल दिया है। राधा-कृष्ण की असीम भक्ति के साथ ही मायुनिंदा, झूठ आदि ३२ विरोधी तत्वों का विश्लेषण भी इस सम्प्रदाय में प्रमुख रूप से हुआ है।

कृष्ण-भक्ति आन्दोलन के प्रचार एवं प्रसार में दूसरा और सर्वप्रमुख व्यक्तित्व श्री वल्लभाचार्य जी (सन् १५५३-१५८७) का है। उत्तर भारत में इन्होंने कृष्ण के पूर्णानन्द स्वरूप को अपनाकर कृष्ण-भक्ति को बड़े वेग और विस्तार से आन्दोलित किया। वल्लभाचार्य जी पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक थे। पुष्टि का अर्थ है "अनुग्रह"। यह मार्ग भगवान के अनुग्रह का मार्ग है। इसके अनुयायियों का प्रमुख साध्य भगवान के अनुग्रह का मार्ग है। इसके अनुयायियों का प्रमुख साध्य भगवान की कृपा द्वारा भगवत प्रेम प्राप्त करना है। यह मार्ग नि.स्साधन भक्तों के लिये उच्चतम मार्ग माना गया है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्द स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म है। ऐसे कृष्ण के माधुर्य पक्ष को प्रचारित और प्रसारित करने का श्रेय वल्लभाचार्य जी को ही है। वल्लभाचार्य जी के प्रभाव से कृष्ण भक्ति में काव्य एवं अन्य ललित कलाओं के द्वारा एक नवीन आन्दोलन प्रस्फुटित हुआ। अष्टछाप की स्थापना हुई और हिन्दी ब्रज भाषा में सूरदास, नन्ददास, परमानन्द दास आदि आठ भक्त कवियों ने भगवान कृष्ण को चरित्र नायक मानकर उनके माधुर्य भाव का गुणगान किया। यद्यपि वल्लभाचार्य जी ने बालकृष्णोपासना को ही प्रमुखता दी थी, किन्तु उनके मतावलम्बी अष्टछापीय भक्त कवियों ने रास बिहारी एवं प्रवासी कृष्ण के भी मधुर एवं भावमय चित्र प्रस्तुत कर कृष्ण भक्ति को रसान्वित किया। वल्लभाचार्य जी ने भक्ति मार्ग की स्थापना समय की आवश्यकता का अनुभव करके की थी। अपने कृष्णाश्रय नामक प्रकरण ग्रन्थ में उन्होंने उस समय का विशद चित्रण किया है। समस्त देश मलेच्छाक्रान्त था, गंगादि तीर्थ भ्रष्ट हो रहे थे, उनके अधिष्ठाता देवता अन्तर्ध्यान हो गये थे। ऐसे अवसर पर उन्होंने भक्ति का मार्ग राज मार्ग के समान प्रशस्त बनाया और उस पर उन सबको भी चलने के लिए आमन्त्रित किया जो धर्म के अधिकारी नहीं समझे जाते थे। इस प्रकार हिन्दू ही नहीं कुछ मुसलमानों ने भी भक्ति का यह सहज मार्ग ग्रहण किया और कृष्ण भक्ति के आन्दोलन को व्यापकता प्रदान की। पुष्टिमार्ग की यह नवचेतना निःसन्देह ही बड़ी मोहक थी। इसने वात्सल्य एवं श्रृंगारमयी भक्ति की धारा को उत्तर भारत में बड़े वेग से प्रवाहित किया।

तीसरा व्यक्तित्व है चैतन्य प्रभु का

वल्लभाचार्य जी के समकालीन चैतन्य महाप्रभु ने चैतन्य सम्प्रदाय या गौड़ीय सम्प्रदाय की स्थापना द्वारा भगवान कृष्ण के माधुर्य भाव को प्रस्फुटित कर समाज में नवीन जागरूकता उत्पन्न की । विरहाकुल अनुभूतियों, तन्मय भावनाओं एवं मधुर कल्पनाओं से ओतप्रोत चैतन्य-सम्प्रदाय में कृष्ण भक्ति का मधुर और सरस भाव विशेष उल्लेखनीय है । श्री चैतन्य महाप्रभू ने १६ वी शताब्दी के मध्य में राधा-कृष्ण की मधुरा भक्ति का प्रचार बंग देश से किया और धीरे-धीरे उसका प्रभाव ब्रज और राजस्थान आदि स्थानों में भी फैल गया ।

सदियों से शैव, शाक्त, और तांत्रिक विचारों से जकड़ी हुई बंग भूमि महाप्रभु चैतन्य के सात्विक जीवन और भक्ति पूर्ण उपदेशों के कारण राधा-कृष्ण की रागानुगिका भक्ति के रंग मे रंग गई ।

अतः महाप्रभु ने राधा को प्रमुख स्थान देकर मधुर भाव की रागानुराग भक्ति का प्रचार किया । इनके मतावलंबियों ने ब्रजमंडल मे अपने केन्द्र स्थापित किये और जनमानस तथा तत्कालीन कवियों को प्रभावित किया ।

इनके अतिरिक्त अष्टछाप कवियो के समकालीन स्वामी हरिदास जी ने राधा-कृष्ण की युग छवि की उपासना सेवा सभी भाव से कर निम्बार्क मत की अवान्तर शाखा रूप मे सखी सम्प्रदाय की स्थापना की । हरीदास जी सगीतज्ञ एवं विद्वान थे, अतः बादशाह अकबर से लेकर तानसेन तथा अन्य राजा महाराजाओं को उन्होंने प्रभावित किया । इन्होने कृष्ण भक्ति आन्दोलनो के प्रसार मे महत्वपूर्ण सहयोग दिया । राधा-कृष्ण के आनन्द विहार का अवलोकन सदा सखी भाव से करने वाले भक्त हरिदास जी द्वारा "सखी सम्प्रदाय" या "हरिदासी सम्प्रदाय" में दीक्षित होकर कृष्ण भक्ति को प्रसार देने लगे । आज भी इनकी गद्दी ब्रज में चली आ रही है । वृन्दावन मे श्री बांकेबिहारी जी का मन्दिर हरिदास जी के समय का ही बना हुआ है ।

अष्टछाप कवियों के समय में स्वामी हितहरिवंश जी ब्रज में एक और संप्रदाय का प्रचार कर रहे थे, जो राधावल्लभीय सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है । प्रथम ये माध्व सम्प्रदायी थे, पर बाद मे वृन्दावन जाकर राधावल्लभ जी की स्थापना कर पूजा-अर्चना करने लगे । इन्होंने कर्मचार ज्ञान का खण्डन कर प्रेम-भक्ति के मार्ग का प्रचार किया तथा राधा और कृष्ण की युगल छवि की उपासना का उपदेश दिया । इसके मत मे युगल छवि की आराधना-पूजा सभी कष्टों का निवारण करने वाली तथा शीघ्र फलदायिनी है । इनका कथन है कि शृंगारमयी प्रवृतियां मानव को गिराती हैं, पर उनसे बचना भी कठिन है इसलिये लौकिक वासना को राधा-कृष्ण की

शृंगारी भावनाओं में ही तिरोहित कर देना अधिक श्रेयस्कर है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तों ने प्रेम की केवल संयोग लीलाओं का ही अवलोकन किया है, वियोग का नहीं। राधा-कृष्ण की कुंज लीला के मनन के आनन्द को इन्होंने "मधुशीन माधुरी भाव" कहा है। युगल छवि के अंकन के कारण इस सम्प्रदाय ने कृष्ण भक्ति के स्वरूप को काव्य और कला के क्षेत्र मे अत्यधिक विस्तार दिया।

संक्षेप मे उपर्युक्त महत्वपूर्ण ग्रंथों तथा विशिष्ट सम्प्रदायो ने ज्ञान तथा योग मार्ग की नीरसता, निर्गुण संतों के भौतिक शृंगारी जीवन के प्रति अनास्था, मुगलो के लगातार हो रहे अत्याचारों की विभीषिका आदि के विपरीत कृष्ण के मनोरजक एवं शृंगारी स्वरूप की स्थापना कर जनता को प्रभावित किया। वैष्णव-भक्ति संप्रदायो मे वृन्दावन बिहारी श्री कृष्ण ही रसिक किशोरके रूप मे वर्णित हुये हैं। सम्पूर्ण चराचर जगत इन्ही युगल किशोर का प्रतिबिम्ब है। श्री कृष्ण के तीनों स्वरूपो अर्थात् वृन्दावन बिहारी कृष्ण, मथुरा वासी कृष्ण, और द्वारिका वासी कृष्ण में प्रथम का विशेष महत्व है। वृदावन बिहारी कृष्ण प्रेम माधुर्य की साक्षात् मूर्ति बन गोप-गोपियों के साथ लीलारत रहते हैं। राधा वल्लभ के रूप मे रसराज शृंगार के सौन्दर्य का विस्तार करते है। इसलिये कृष्ण भक्तो मे यह माना गया है कि कृष्ण का जो स्वरुप वृन्दावन में दृष्टव्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ब्रज मण्डल मे प्रत्येक स्थान, श्री कृष्ण भगवान का क्रीड़ा स्थल होने के कारण पवित्र तीर्थ स्थल माना जाता है। भारतीय इतिहास मे ब्रज के पुनीत क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। इस क्षेत्र में विकसित संस्कृति की छाप समय-समय पर सर्वत्र फैली है। कृष्ण भक्ति के स्वरुप को प्रचारित करने वाले अनेक सम्प्रदायों को विकसित होने के लिये वह क्षेत्र मिला जो उनके उपास्य देव की जन्म स्थली व लीला स्थली भी था।

कलाएं : जो कृष्ण लीला की चेरी बन गई

राजनैतिक धार्मिक, व्यापारिक एवं कलात्मक कारणों से ब्रज मण्डल के सम्पर्क में आने वाले अन्य प्रदेशों के सामाजिक भी कृष्ण भक्ति के तत्कालीन स्वरूप से प्रभावित हुए बिना न रह सके। ब्रज मण्डल की लीलाएं विस्तार पाने लगी। मुगल दरबार के सम्पर्क में आने वाले राजा महाराजा मथुरा एवं वृन्दावन वासी आचार्यों से प्रभावित होकर उनका शिष्यतत्व ग्रहण करने लगे तथा प्रत्यक्ष रूप एवं परोक्ष रूप से कृष्ण भक्ति आन्दोलन को अपने साम्राज्य मे आश्रम देने लगे। कृष्ण की बाल, किशोर तथा यौवन की विभिन्न लीलाओ ने समाज मे जीवन्त आस्थाओं को आश्रय दिया। कृष्ण भक्ति आन्दोलन के प्रसारक आचार्यों की छाप द्वारा भक्त कवियों ने कृष्ण की विभिन्न लीलाओ का मनोमुग्धकारी अंकन कर काव्य और संगीत की रस धार बहा दी। कृष्ण के साकार स्वरूप को बल मिला। मूर्तिकार,

चित्रकार, संगीतकार अपने-अपने माध्यम से कृष्ण की लीलाओं को प्रचारित करने लगे।

इस प्रकार भक्ति की परम्परा ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को नवीन चेतना प्रदान की। १२ वीं १३ वीं शताब्दी से १६ वीं शती तक कृष्ण भक्ति आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर पहुंच कर १७ वीं शती के धर्म का केन्द्र बिन्दु बन गया। १७ वीं शती के मध्य तक लीला विहारी कृष्ण की भक्ति का गढ़ ब्रज मण्डल रहा, पर औरंगजेब की धर्म विरोधी प्रवृत्ति के कारण यहां का गढ़ विशृंखल हो गया। राजस्थान सौभाग्यशाली प्रान्त था, जो अपनी वीरता, धर्म संरक्षणता तथा सामंती शृंगार परकता के कारण कृष्ण भक्ति आंदोलन का प्रमुख गढ़ बन गया। माधुर्य पूर्ण कृष्ण की लीलायें राजस्थान के कोने-कोने में विस्तार पाने लगी। धर्माचार्यों ने पीठ स्थापित कर, गोस्वामियों एवं अन्य पुजारियों ने मन्दिर बनवा कर राजाओं, सांमतों, जागीरदारों आदि ने कृष्ण भक्ति को पोषित कर तथा कवि, मुस्सविर, कलावन्त, राज आदि ने कृष्ण के माधुर्य स्वरूप को अंकित कर कृष्ण भक्ति की जो अजस्त्रधारा बहायी है, वह अविस्मरणीय है। इतिहास का पूर्व आधुनिक काल कृष्ण भक्ति के मधुर रंग में रंगा हुआ है। कथ्य की एकता तथा आश्रयदाताओं एवं कलाकारों के आपसी सम्बन्धों के कारण चरित्र का स्वरूप कविता, चित्रकला, संगीत एवं तक्षण कला में साकार हो उठा है। कवियों ने बाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण एवं रसिक विहारी कृष्ण की विभिन्न भंगिमाओं का चित्रण किया तथा कविता को आधार बनाकर चित्रकारों ने रंग और रेखाओं के माध्यम से कृष्ण की मनोहारी लीलाओं का अंकन किया। राजस्थानी चित्रकला की मेवाड़, बूँदी, किशनगढ, अलवर आदि शैलियों में राधा और कृष्ण की रंग-रेलियां भित्ति चित्रण, पोथी चित्रण एवं लघु चित्रण के माध्यम से साकार हो उठी। इस दृष्टि से कृष्ण लीलांकन में पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न शैलियां भी किसी प्रकार पीछे न रही। स्थान-स्थान पर मंदिर बनने लगे और कृष्ण लीला की विभिन्न मूर्तियां सामान्य जनता के लिये पूजा का आधार बन गई।

इस प्रकार साहित्य, संगीत, चित्रकला तथा तक्षण कला की बहुमुखी गंगा ने बाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण तथा रसिक विहारी कृष्ण [illegible] लीलाओं की रसधार बहा दी।

वल्लभ सम्प्रदाय और कलात्मक परिवेश

मध्यकाल में कृष्ण भक्ति आन्दोलन के प्रचार और प्रसार में श्री वल्लभाचार्य जी (सं० १५३५-१५८७) का स्थान सर्वोपरि है। उत्तर भारत में इन्होने कृष्ण के पूर्णानन्द स्वरूप को अपनाकर कृष्ण भक्ति को बड़े वेग और विस्तार से प्रवाहित किया। वल्लभाचार्य जी पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक थे। पुष्टि का अर्थ है 'अनुग्रह'। यह मार्ग भगवान के अनुग्रह का मार्ग है। इसके अनुयायियों का मुख्य साध्य भगवान की कृपा द्वारा भगवद् प्रेम प्राप्त करना है। वल्लभाचार्य जी के प्रभाव से कृष्ण-भक्ति में काव्य एवं अन्य ललित कलाओं के द्वारा एक नवीन आन्दोलन प्रस्फुटित हुआ, जिसने भारतीय जन-जीवन को कलात्मक परिवेश में सराबोर कर दिया। काव्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्य की रसधार बह चली। मध्यकाल में धर्म केन्द्र बिन्दु था और उसके चारों ओर उपर्युक्त कलाएँ भगवान कृष्ण का अनुग्रह पाने के लिए साधन थी।

वल्लभाचार्य जी ने भारत के बहुत से भागो में पर्यटन कर तथा विद्वानो से शास्त्रार्थ कर अपने मत का प्रचार किया। अन्त मे अपने उपास्य श्री कृष्ण की जन्मभूमि में आकर उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की और अपने शिष्य पूरणमल खत्री द्वारा गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी का बड़ा भारी मन्दिर निर्मित करवाया तथा सेवा का बडा भारी मंडान बांधा। वल्लभ सम्प्रदाय मे जो सेवा पद्धति अपनायी गयी उसमें भोग-राग तथा विलास की प्रभूत सामग्री के प्रदर्शन की प्रधानता रही। इस सगुण-भक्ति के कारण कलात्मक परिवेश उभर कर सामने आया जिसका भारतीय संस्कृति मे विशेष योगदान है।

काव्य की धारा

पुष्टि सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्य, संगीत और चित्रकला की त्रिवेणी अबाध गति से बह निकली। वल्लभाचार्य जी के प्रभाव में अष्टछाप की स्थापना हुई। अष्ट कवियो का भक्ति काव्य श्रीनाथ जी की अष्टयाम की सेवा हेतु फूट पड़ा। कृष्ण लीला सम्बन्धी पदों की रचना से अथाह सागर भरकर तैयार हुआ जो भक्ति काव्य की दृष्टि से अमूल्य धरोहर है। हिन्दी ब्रजभाषा मे सूरदास, नन्ददास, परमानन्द जैसे आठ भक्त कवियो ने भगवान कृष्ण को चरित्र नायक मानकर उनके

माधुर्य भाव का गुणगान किया। यद्यपि वल्लभाचार्य ने बालकृष्णोपासना को ही प्रमुखता दी थी, किन्तु उनके मतावलंबी अष्टछापीय भक्त कवियों ने रास बिहारी एवं प्रवासी कृष्ण के भी मधुर एवं भावमय चित्र प्रस्तुत कर कृष्ण भक्ति को रसान्वित किया। पुष्टि मार्ग की यह नवचेतना निसंदेह ही बड़ी मोहक थी। इसने वात्सल्य एवं श्रृंगारमयी भक्ति की धारा को उत्तर भारत में बड़े वेग से प्रवाहित किया।

अष्टछाप के कवियों ने रतिभाव को प्रमुख आधार बनाया और भगवत विषयक रति, वात्सल्य रति एवं दाम्पत्य रति के अन्तर्गत असंख्य पदों की रचना कर हिन्दी साहित्य-सागर को आप्लावित किया। अष्टछाप की सेवा पद्धति में प्रातः से लेकर रात तक बारी-बारी से ये भक्त कवि श्रीनाथ जी के विग्रह के सम्मुख पदों की रचना कर गायन करते थे। पदो की इस गीति परम्परा मे काव्य और सगीत का मार्मिक समन्वय दृष्टव्य है।

संगीत की रसधार

पदों की रचना गायन के निमित्त होती थी अत. पुष्टि सम्प्रदाय ने भारतीय संगीत की रसधारा ही नही बहायी, वरन् परम्परा के मन्दिरों मे अक्षुण भी रखा। यही कारण है कि सूर, नन्ददास, परमानन्ददास आदि अष्टछाप के भक्त कवियों के पद राग-रागनियो पर आधारित हैं। ६ राग छत्तीस रागिनियो का जिक्र इनके पदो मे विस्तार से हुआ है। प्रत्येक पद पर राग-रागिनी अंकित है, जिससे ज्ञात होता है कि भारतीय शास्त्रीय पद्धति पर इन पदों का गायन परम्परा से होता रहा है। प्राचीनतम ध्रुवपद शैली की गायन पद्धति को आज तक बनाए रखने का श्रेय इन भक्त कवियो और संगीतकारो को ही है अन्यथा तो यह संगीत शैली ख्याल, दादरा, टप्पा, गजल जैसी दरबारी संगीत प्रवृत्तियो मे कभी की गायब हो गयी होती। लोक जीवन और संगीत को जोड़ने का श्रेय पुष्टि सम्प्रदाय को ही है। मन्दिर सगीत, हवेली संगीत के नाम से यह शैली आज भी पुष्टि सम्प्रदाय के मन्दिरों में जीवित है। ध्रुवपद और धम्भार की पारस्परिक शैली को या तो डागर घराने ने जीवित रखा है या मन्दिरों के उन ध्रुपदियों ने जो अष्टछाप की पूजा सेवा मे संलग्न हैं।

वल्लभाचार्य जी के समवर्ती हरिदास जी ऐसे कृष्ण भक्त हुए हैं जिन्होने भारतीय संगीत को नये आयाम दिए। तानसेन जैसे ध्रुवपद गायक उनकी शिष्य परम्परा मे थे तथा महान् अकबर हरिदास जी की संगीत लहरी सुनने के लिए तरसता था।

रंगों की बहार

संगीत की ही भांति चित्रकला का प्रचार-प्रसार भी वल्लभ सम्प्रदाय का एक अंग था। श्रीनाथ जी के स्वरूप के विस्तृत चित्रांकन ने आगे चलकर व्यवस्था का

ही रूप धारण कर लिया। वास्तव में तो श्रीनाथजी की रूप सज्जा के लिए तथा वर्ष भर की विभिन्न लीलाओं और झांकियों के लिए कपड़े पर चित्रित पिछवाइयों का पुष्टि सम्प्रदाय में प्रचलन ही चल पड़ा।

सगुण भक्ति की सरसता तथा माधुर्य भावना ने चित्रकला को अधिक प्रभावित किया। धर्माचार्य स्वयं निर्गुण की नीरसता के स्थान पर सगुण की स्थापना हेतु मूर्तिपूजा एवं चित्रांकन को अधिक महत्व देते थे। कृष्ण चरित्र की मधुरता, सरलता एवं जनप्रिय लोककलात्मकता ने मध्यकालीन चित्रकला को अत्यधिक प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप मन्दिरों में, महलों में एवं छतरियो में भित्ति चित्रण एव सचित्र ग्रन्थों और लघुचित्रों में कृष्ण लीला का जमकर चित्रण हुआ। आचार्य स्वय कवि होते थे एवं साकार को प्रसारित करने के लिए चित्रकला को उपयुक्त माध्यम समझते थे। वास्तव में तो श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि सम्प्रदाय की भक्ति के प्रचार एवं प्रसार मे ललित कलाओं को बहुत प्रोत्साहित किया। स्वय महाप्रभु ने भारत के तत्कालीन चित्रकार 'होनहार' को अपना चित्र अंकित करने की अनुमति दी। पुष्टि सम्प्रदाय में चित्रकला को विशिष्ट स्थान दिए जाने का यही कारण है। वल्लभाचार्य जी के सुपुत्र श्री विट्ठलनाथ स्वय चित्रकला मे परम निपुण थे। उनका बनाया हुआ बालकृष्ण का चित्र आज तक विद्यमान है।

वल्लभाचार्य जी के जीवनकाल मे ही पुष्टि सम्प्रदाय का काफी विस्तार हो चुका था। ब्रजप्रदेश काव्य, सगीत और चित्रकला का संगम स्थल बन गया था। आचार्य जी के उपरान्त श्री विट्ठलनाथ जी ने सम्प्रदाय का आशातीत विस्तार किया। भारत सम्राट अकबर ने उक्त गोस्वामी जी से प्रसन्न होकर उन्हे गोवर्धन और गोकुल की भूमि भेंट मे दी। राजस्थान के अनेक राजा वल्लभ सम्प्रदाय मे प्रभावित होकर दीक्षित हुए और अपने-अपने राज्यों मे मन्दिर बनवाकर कला जगत की असीम सेवा की। आगे चलकर तो औरंगजेब की कट्टर नीति के कारण ब्रज-मंडल का गढ़ टूट गया और पुष्टि सम्प्रदाय ने राजस्थान मे प्रश्रय प्राप्त किया। गोवर्धन पर्वत पर स्थित वल्लभाचार्य जी द्वारा स्थापित श्रीनाथ जी के स्वरूप को लेकर गोस्वामी आश्रम के लिए राजस्थान की ओर निकल पड़े तथा १० फरवरी १६७२ के दिन मेवाड़ मे सीहाड़ गाँव मे मूर्ति की स्थापना की गयी जो तब से ही नाथद्वारा कहलाने लगा।

१७ वी शती से लेकर आज तक नाथद्वारा वल्लभ सम्प्रदाय का गढ रहा है। अपनी विशिष्ट सेवा पूजा विधि के कारण काव्य सगीत और चित्रकला की त्रिवेणी यहां भी प्रवाहित होने लगी। मेवाड और ब्रज की चित्रकला के समन्वय से नाथ-द्वारा शैली की विशिष्टता उभर कर सामने आयी। नाथद्वारा की विश्वविख्यात शैली मे श्रीनाथ जी के स्वरूप के व्यवसायिक चित्र बनने लगे। आज भी नाथद्वारा

मे लगभग ४० परिवार चित्रकला की परम्परा को निभा रहे हैं । पुरुषोत्तमदास गोपालदास जैसे परवावजिए नाथद्वारा संगीत मंडल की ही देन हैं । वहाँ का हवेली संगीत ग्राज भी मुरझाए मनों को रसविभोर कर देता है ।

इस प्रकार शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के ग्राचार्य तथा वैष्णव भक्तों के ग्राराध्य स्वरूप 'श्रीनाथजी' के स्वरूप के स्थापन से राजस्थान वैष्णव धर्म का केन्द्र बन गया । श्री बल्लभाचार्य, श्री विट्ठलनाथ तथा ग्रष्टछाप कवियों के समय से ही वल्लभ सम्प्रदाय मे ग्राठ स्वरूपों की विशेष सेवा, पूजा होती ग्राई है । उनमे परम सेव्य स्वरूप श्री नाथजी का है । श्री विट्ठलनाथ ने ग्रपने ग्रन्त समय मे स्वरूपो की सेवा ग्रलग-ग्रलग ग्रपने सात पुत्रों को सौंप दी, जिससे देश भर मे पुष्टि सम्प्रदाय का विस्तार हुग्रा ग्रौर कला की त्रिवेणी स्थान-स्थान पर प्रवाहित हो उठी । ये ग्राठ स्वरूप इस प्रकार है—

स्वरूप	सेवा का वर्तमान स्थान
१ श्रीनाथ जी	नाथद्वारा (राजस्थान)
२ श्री मथुरेश जी	कोटा (राजस्थान)
३ श्री विट्ठलनाथ जी	नाथद्वारा (राजस्थान)
४. श्री द्वारकेश जी	काकरोली (राजस्थान)
५ श्री गोकुलनाथ जी	गोकुल (उत्तरप्रदेश)
६ श्री गोकुलचन्द्रमा जी	कामवन (राजस्थान)
७ श्री मदनमोहन जी	कामवन (राजस्थान)
८ श्री बालकृष्ण जी	सूरत (गुजरात)

उपर्युक्त पीठो के माध्यम से कृष्ण भक्ति की धारा तीव्रता से विकीर्ण हुई तथा काव्य, संगीत, चित्रकला ग्रौर स्थापत्य की रसधार ने जनजीवन मे सांस्कृतिक चेतना पैदा की । उपर्युक्त पीठो के ग्रतिरिक्त भी श्री महाप्रभु जी गोस्वामी ग्रादि की बैठकें तथा गोस्वामी कुल द्वारा पुष्ट किए गये राजा महाराजाग्रो, रानियो, पासवानों तथा धनीमानी नागरिको द्वारा निर्मित देवालयो मे पुष्टि-सम्प्रदाय की समृद्धि के समय ही कलात्मक परिवेश भी समानान्तर रूप से उभर कर ग्राया, जिसने भारतीय संस्कृति को ग्रनमोल निधि प्रदान की । इस दृष्टि से वल्लभ सम्प्रदाय का कलात्मक परिवेश ग्रपना सानी नहीं रखता ।

□

राजस्थान में कृष्ण भक्ति आन्दोलन और कलाओं का योगदान

भक्ति परम्परा कितनी प्राचीन है, यह कह पाना तो कठिन है, किन्तु इसकी रसधार में निमग्न होकर भारतीय समाज समय-समय पर रस विभोर होता रहा है। इस भक्ति परम्परा में कृष्ण भक्ति का विशेष योगदान है। कृष्ण भक्ति के उद्भव का समय निश्चित करना भी कठिन कार्य है, किन्तु महाभारत के समय से कृष्ण का चरित्र भगवान् के रूप मे स्वीकृत होने लगा था।

मध्यकालीन भारत धार्मिक आन्दोलनों का पोषक रहा है। इस समय धार्मिक आन्दोलन तेरहवी शताब्दी से सोलहवी शताब्दी तक अपनी पराकाष्ठा पर पहुच चुके थे। अपनी माधुर्य भावना के कारण विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों मे कृष्ण भक्ति आन्दोलन का सर्वोपरि स्थान रहा है। कृष्ण भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तन, प्रचार एवं प्रसार में कुछेक महान् ग्रन्थो तथा ऐसे विशिष्ट व्यक्तियो का योगदान रहा है, जिन्होंने अपने सम्प्रदायो की स्थापना कर भक्ति मार्ग मे भगवान कृष्ण का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित किया और उसके आकर्षण द्वारा समाज को सायुज्य-मुक्ति का मार्ग दिखलाया।

कृष्ण भगवान की लीला स्थली होने के कारण चौरासी कोस में फैला ब्रज-मण्डल कृष्ण की लीलाओ का केन्द्र रहा है इस क्षेत्र मे विकसित संस्कृति की छाप समय-समय पर सर्वत्र फैली है। राजनैतिक धार्मिक आदि कारणो से ब्रज मण्डल के सम्पर्क मे आने वाले अन्य प्रदेशो के सामाजिक भी कृष्ण भक्ति के तत्कालीन स्वरूप से प्रभावित हुये। इस कारण ब्रज मण्डल की लीलायें विस्तार पाने लगी। मुगल दरबार के सम्पर्क मे आने वाले राजस्थान के राजा महाराजा मथुरा एवं वृन्दावन वासी आचार्यों से प्रभावित होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण करने लगे, तथा परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप से कृष्ण भक्ति आन्दोलन को अपने साम्राज्य मे आश्रय देने लगे। कृष्ण की बाल, किशोर तथा यौवन की विभिन्न लीलाओ ने समाज में जीवन्त आस्थाओं का आश्रय दिया। कृष्ण भक्ति आन्दोलन के प्रसारक आचार्यो की छाप द्वारा भक्त कवियों ने कृष्ण की विभिन्न लीलाओ का मनोमुग्धकारी अकन कर काव्य और संगीत की रसधारा बहा दी। कृष्ण के साकार स्वरूप को बल मिला।

शृंगार और निखार अपनी देह और मुक्ति लेकर कृष्ण की मधुर लीलाओं का चिन्तन करने में मग्न हो गये ।

राजस्थान में आन्दोलन का सूत्रपात

राजस्थान में कृष्ण भक्ति आन्दोलन के सूत्रपात का समय अनिश्चित है, किन्तु कृष्ण भक्ति की मधुरता एवं व्यापकता के कारण ब्रज मण्डल, गुजरात, काठियावाड़ आदि के उपरान्त राजस्थान ही ऐसा प्रान्त है जहाँ उपर्युक्त प्रभाव अधिक रहा है । शैवधर्म तथा जैन धर्म को आत्मसात करने वाले राजस्थान ने कृष्ण के सगुण माधुर्य-पूर्ण स्वरूप को धर्म, कला, साहित्य आदि के द्वारा जिस खूबी के साथ अपनाया है वह अविस्मरणीय है । "अनेक शिलालेखों एवं मूर्तियों के आधार पर राजस्थान में वैष्णव धर्म की प्राचीनता का परिचय मिलता है, किन्तु आन्दोलन के रूप में जबसे यह प्रसारित हुआ वही विचारणीय है ।

१३ वी शताब्दी से १६ वी शताब्दी तक अपनी पराकाष्ठा पहुंचने वाली कृष्ण भक्ति, जिसको १७ वी शती से धर्म मे प्रमुख स्थान दिया जाने लगा था, वह राजस्थान को भी प्रभावित किये बिना न रह सकी । इस दृष्टि से मीराबाई का योगदान विशेष उल्लेखनीय है । मीराबाई ने अपने समय (१४९२-१५४६) मे कृष्ण-भक्ति के जिस स्वरूप को अपनाया था, वह किसी आन्दोलन विशेष से प्रत्यक्ष रूप मे तो सम्बन्धित नही है, किन्तु अनेक सम्प्रदायो और मतो का प्रभाव इस बात को स्पष्ट करता है कि राजस्थान मे निर्गुण और सगुण धारा का विस्तृत प्रचार होने लगा था ।

इतिहास सिद्ध मीराबाई का जीवन वृत प्रत्यक्ष कर देता है कि प्रतिष्ठित क्षत्रिय कुल की कन्या होते हुये भी पितृकुल मे ही उन्हें कृष्ण भक्ति की दीक्षा मिल चुकी थी । उनके पितामह राव दूदाजी प्रसिद्ध वैष्णव कवि थे । उनकी माता भी वैष्णव भक्तों के कुल से ही आई थी । उनके कुटुम्ब का वातावरण कृष्ण-भक्ति से ओतप्रोत था । इसलिये वे अपने शैशव काल से ही कृष्ण की भक्ति में रग चुकी थी । मीरा के उपास्यदेव का रूप कृष्ण का लीला रूप है, तथा उनकी साधना भी वैष्णव मत के अन्तर्गत माधुर्य भक्ति से प्रभावित है । मीरा ने कृष्ण की कल्पना युवा रूप में की थी, इसलिये चैतन्य की विरहाकुल अनुभूतियाँ, तन्मयभावना, और मधुर कल्पनाओ का योग मीरा की उपासना में सहज ही दृष्टव्य है । किसी न किसी रूप मे अपने प्रियतम कृष्ण को उन्होने अनेक मतो के परिपर्श्व मे देखा है । गिरिधर नागर के सौन्दर्य पूर्ण रूप मे उन्होने अनेक सम्प्रदायो के प्रभाव से अनेक परिवर्तन और सामन्जस्य किये । कही उनमे निर्गुण ब्रह्म की शक्ति का आरोप है तो कही चढती वयस और बाके नयनो वाले जोगी मे कृष्ण की कल्पना

साकार हो उठी है—सुन्दर रूपवान और लीलाप्रिय युवक कृष्ण उनकी कल्पना के साकार आराध्य हैं, जिन पर अनेक सम्प्रदायों के आराध्यों की गौण छाप है। मीराबाई ने कृष्ण के अनन्य प्रेम में सांसारिक लोक लाज खोकर राजस्थान में कृष्ण भक्ति की जो भजनधारा बहाई है उसके फलस्वरूप बाहर से आने वाले आचार्यों को कृष्ण भक्ति आन्दोलन की जड़ें जमाने के लिये यहाँ भाव भूमि प्रायः तैयार मिली। मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों में है। काव्य एवं संगीत के द्वारा कृष्ण भक्ति को उन्होंने राजस्थान के कोने-कोने से लेकर गुजरात तक जिस सरलता एवं सादगी से प्रसारित किया वह अविस्मरणीय है।

प्रसार के कारण

ब्रज मंडल के उपरान्त राजस्थान ही ऐसा प्रमुख प्रदेश रहा है, जहाँ कृष्ण भक्ति आंदोलन ने अपनी जड़ें सुदृढ़ की तथा प्रचार एवं प्रसार में सक्रिय भाग लिया। राजस्थान में उसके प्रसारित होने एवं पीठस्थापन के निम्नलिखित कारण हैं—

१. अनुकूल वातावरण

प्राचीन समय से ही राजस्थान में वैष्णव भक्ति का प्रचार रहा है। डॉ० रत्नचन्द्र अग्रवाल के मतानुसार नगरी (चित्तौड़गढ़) के समीपस्थ घोसुण्डी नामक स्थान से प्राप्त द्वितीय शताब्दी ई० पू० के शिलालेख में संकर्षण वासुदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है। अतः शुंगकाल में मध्यमिका (नगरी) वैष्णव धर्म का एक प्रमुख केन्द्र बन चुकी थी। डॉ० भण्डारकर के अनुसार नगरी की नारायण वाटिका भारतवर्ष भर में अपने ढंग का एक ही अवशेष है। यह प्राचीनतम वैष्णव मन्दिर कहा जा सकता है। जोधपुर के निकट मण्डोर के गुप्तकालीन विशाल शिलाफलक प्राप्त हुये हैं, जिन पर गोवर्धन धारण, दधिमंथन, धेनुक वध, कालिया मर्दन आदि लीलाएँ अंकित हैं। राजस्थान की गुप्तकालीन कृष्ण सम्बन्धी मूर्तियों का विस्तृत अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उस समय रूप बास (भरतपुर), रंगमहल (बीकानेर), तथा मण्डोर (जोधपुर) आदि स्थान कृष्ण एवं वैष्णव विचारधारा के प्रमुख केन्द्र अवश्य रहे होंगे। मेवाड़ एवं जोधपुर में वैष्णव धर्म के प्रति पहले से ही आस्था रही है। आन्दोलन के प्रचार एवं प्रसार के लिये राजस्थान में अनुकूल वातावरण था। यहाँ मीराबाई का व्यक्तित्व ऐसा रहा है जिसने कृष्ण भक्ति की रसधार में राजस्थान को ही नहीं वरन् गुजरात और ब्रज मंडल को भी रस-निमग्न किया। ...ने यहाँ ऐसी अनुकूल भाव भूमि तैयार की जिससे भक्ति आन्दोलन को राजस्थान ... जड़ें जमाने में तनिक भी कठिनाई नहीं पड़ी। आचार्य और मठाधीश औरंगजेब ... नीति ... भीत होकर अपने-अपने आराध्य स्वरूपों को लेकर ऐसे स्थान ... चल ... में ही अनुकूल भूमि तैयार थी। राजस्थान में राजाओं ... तथ ... रक्षण की प्रवृत्ति, कृष्ण भक्ति के प्रति विशेष लगाव

मूर्तिकार और चित्रकार अपनी शैली और तूलिका लेकर कृष्ण की मधुर लीलाओं का चित्रांकन करने में संलग्न हो गये ।

राजस्थान में आन्दोलन का सूत्रपात

राजस्थान में कृष्ण भक्ति आन्दोलन के सूत्रपात का समय अनिश्चित है, किन्तु कृष्ण चरित्र की मधुरता एवं व्यापकता के कारण ब्रज मण्डल, गुजरात, काठियावाड़ आदि के उपरान्त राजस्थान ही ऐसा प्रान्त है जहाँ उपर्युक्त प्रभाव अधिक रहा है । शैवधर्म तथा जैन धर्म को आत्मसात करने वाले राजस्थान ने कृष्ण के सगुण माधुर्य-पूर्ण स्वरूप को धर्म, कला, साहित्य आदि के द्वारा जिस खूबी के साथ अपनाया है वह अविस्मरणीय है । "अनेक शिलालेखों एवं मूर्तियों के आधार पर राजस्थान में वैष्णव धर्म की प्राचीनता का परिचय मिलता है, किन्तु आन्दोलन के रूप में कबसे यह प्रसारित हुआ यही विचारणीय है ।

१३ वी शताब्दी से १६ वी शताब्दी तक अपनी पराकाष्ठा पहुंचने वाली कृष्ण भक्ति, जिसको १७ वी शती से धर्म मे प्रमुख स्थान दिया जाने लगा था, वह राजस्थान को भी प्रभावित किये बिना न रह सकी । इस दृष्टि से मीराबाई का योगदान विशेष उल्लेखनीय है । मीराबाई ने अपने समय (१४९२-१५४६) मे कृष्ण-भक्ति के जिस स्वरूप को अपनाया था, वह किसी आन्दोलन विशेष मे प्रत्यक्ष रूप मे तो सम्बन्धित नही है, किन्तु अनेक सम्प्रदायो और मतों का प्रभाव इस बात को स्पष्ट करता है कि राजस्थान मे निर्गुण और सगुण धारा का विस्तृत प्रचार होने लगा था ।

इतिहास सिद्ध मीराबाई का जीवन वृत प्रत्यक्ष कर देता है कि प्रतिष्ठित क्षत्रिय कुल की कन्या होते हुये भी पितृकुल मे ही उन्हें कृष्ण भक्ति की दीक्षा मिल चुकी थी । उनके पितामह राव दूदाजी प्रसिद्ध वैष्णव कवि थे । उनकी माता भी वैष्णव भक्तों के कुल से ही आई थी । उनके कुटुम्ब का वातावरण कृष्ण-भक्ति से ओतप्रोत था । इसलिये वे अपने शैशव काल से ही कृष्ण की भक्ति मे रग चुकी थी । मीरा के उपास्यदेव का रूप कृष्ण का लीला रूप है, तथा उनकी साधना भी वैष्णव मत के अन्तर्गत माधुर्य भक्ति से प्रभावित है । मीरा ने कृष्ण की कल्पना युवा रूप मे की थी, इसलिये चैतन्य की विरहाकुल अनुभूतियां, तन्मयभावना, और मधुर कल्पनाओं का योग मीरा की उपासना मे सहज ही दृष्टव्य है । किसी न किसी रूप में अपने प्रियतम कृष्ण को उन्होंने अनेक मतो के परिपर्श्व मे देखा है । गिरिधर नागर के सौन्दर्य पूर्ण रूप मे उन्होने अनेक सम्प्रदायों के प्रभाव से अनेक परिवर्तन और सामन्जस्य किये । कही उनमे निर्गुण ब्रह्म की शक्ति का आरोप है तो कही चढती वयस और बाके नयनों वाले जोगी मे कृष्ण की कल्पना

साकार हो उठी है—सुन्दर रूपवान और लीलाप्रिय युवक कृष्ण उनकी कल्पना के साकार आराध्य हैं, जिन पर अनेक सम्प्रदायो के आराध्यों की गौण छाप है। मीराबाई ने कृष्ण के अनन्य प्रेम मे सांसारिक लोक लाज खोकर राजस्थान मे कृष्ण भक्ति की जो अजस्रधारा बहाई है उसके फलस्वरूप बाहर से आने वाले आचार्यो को कृष्ण भक्ति आन्दोलन की जड़ें जमाने के लिये यहाँ भाव भूमि प्रायः तैयार मिली। मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों मे है। काव्य एवं संगीत के द्वारा कृष्ण भक्ति को उन्होने राजस्थान के कोने-कोने से लेकर गुजरात तक जिस सरलता एवं सादगी से प्रसारित किया वह अविस्मरणीय है।

प्रसार के कारण

ब्रज मंडल के उपरान्त राजस्थान ही ऐसा प्रमुख प्रदेश रहा है, जहाँ कृष्ण भक्ति आंदोलन ने अपनी जड़ें सुदृढ़ की तथा प्रचार एवं प्रसार मे सक्रिय भाग लिया। राजस्थान मे उसके प्रसारित होने एवं पीठस्थापन के निम्नलिखित कारण हैं—

१. अनुकूल वातावरण

प्राचीन समय से ही राजस्थान में वैष्णव भक्ति का प्रचार रहा है। डॉ० रतनचन्द्र अग्रवाल के मतानुसार नगरी (चित्तौड़गढ़) के समीपस्थ घोसुण्डी नामक स्थान से प्राप्त द्वितीय शताब्दी ई० पू० के शिलालेख मे सकर्षण वासुदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है। अतः शुंगकाल मे मध्यमिका (नगरी) वैष्णव धर्म का एक प्रमुख केन्द्र बन चुकी थी। डॉ० भण्डारकर के अनुसार नगरी की नारायण वाटिका भारतवर्ष भर मे अपने ढंग का एक ही अवशेष है। यह प्राचीनतम वैष्णव मन्दिर कहा जा सकता है। जोधपुर के निकट मण्डोर के गुप्तकालीन विशाल शिलापलक प्राप्त हुये है, जिन पर गोवर्धन धारण, दधिमथन, धेनुक वध, कालिया मर्दन आदि लीलाएँ अंकित है। राजस्थान की गुप्तकालीन कृष्ण सम्बन्धी मूर्तियो का विस्तृत अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उस समय रूप वास (भरतपुर), रंगमहल (बीकानेर), तथा मण्डोर (जोधपुर) आदि स्थान कृष्ण एवं वैष्णव विचारधारा के प्रमुख केन्द्र अवश्य रहे होंगे। मेवाड़ एवं जोधपुर मे वैष्णव धर्म के प्रति पहले से ही आस्था रही है। आन्दोलन के प्रचार एव प्रसार के लिये राजस्थान मे अनुकूल वातावरण था। यहाँ मीराबाई का व्यक्तित्व ऐसा रहा है जिसने कृष्ण भक्ति की रसधार मे राजस्थान को ही नही वरन् गुजरात और ब्रज मडल को भी रस-निमग्न किया। उन्होने यहाँ ऐसी अनुकूल भाव भूमि तैयार की जिससे भक्ति आन्दोलन को राजस्थान मे जड़ें जमाने में तनिक भी कठिनाई नही पडी। आचार्य और मठाधीश औरंगजेब की कट्टर नीति से भयभीत होकर अपने-अपने आराध्य स्वरूपों को लेकर ऐसे स्थान की ओर चल पडे जहां पहले से ही अनुकूल भूमि तैयार थी। राजस्थान मे राजाओ का शौर्य तथा उनकी धर्म-रक्षण की प्रवृत्ति, कृष्ण भक्ति के प्रति विशेष लगाव

तथा मीराबाई द्वारा अनुकूल वातावरण का निर्माण आदि ऐसे कारण है जिनके फलस्वरूप राजस्थान मे कृष्ण भक्ति आन्दोलन की जड़ें जम सकी ।

२. ब्रज मण्डल का प्रभाव

१३ वी शताब्दी के पश्चात् से ही ब्रज मंडल कृष्ण भक्ति का केन्द्र बनने लगा था और १७ वी शती के मध्य तक तो वह उसका सर्वोच्च गढ बन गया । कृष्ण भक्ति का प्रकाश चारो ओर विकीर्ण हांने लगा, जिसमे राजस्थान अपनी सांस्कृतिक उर्वरा भाव भूमि के कारण तथा ब्रज मडल की सीमा से लगा होने के कारण अधिक प्रभावित हुआ । राजस्थान का बहुत सा अंश जैसे डीग, कामवन, भरतपुर, नगर आदि प्राचीन समय से ही ब्रज के ८४ कोस के विस्तार में रहे हैं । सामान्य जनता की धार्मिक प्रवृत्ति, व्यवसाय, तथा राजनीतिक सम्पर्कों के कारण राजस्थान का ब्रज मडल से धीरे-धीरे सम्पर्क स्थापित होने लगा । १६ वीं शताब्दी मे अकबर की धार्मिक सहिष्णुता के कारण ब्रज मंडल मे कृष्ण भक्ति आन्दोलन के प्रसार में किसी प्रकार व्यवधान नहीं पड़ा, बल्कि उसने विभिन्न प्रवृत्तको का आदर किया और उन्हे जागीरें देकर प्रोत्साहित किया । श्री विट्ठलनाथ जी के अनेक शिष्य थे । भारत सम्राट अकबर ने उक्त गोस्वामी जी से प्रसन्न होकर उन्हें गोवर्धन और गोकुल की भूमि भेंट दी थी । हरिदास जी जैसे संगीतज्ञ से बादशाह अत्यधिक प्रभावित था । सन् १५६२ मे राजा भगवानदास, कुंवर मानसिंह जयपुर तथा जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि राज्यो के राजाओं ने अकबर की आधीनता स्वीकार की और बादशाह को अपनी बहन बेटिया देकर मुगल दरबार से सम्बन्ध स्थापित किया । मुगल दरबार मे रहकर शाहीमनसबदार बनने एवं साम्राज्य की सेवा करने की जो परम्परा चली, वह आगे भी चलती रही । इसके फलस्वरूप राजस्थान के अधिकतर राजाओं को शाही दरबार में आगरा जाने के कारण ब्रज मंडल मे सम्पर्क स्थापित करने और विभिन्न आचार्यों का शिष्यत्व ग्रहण करने या उनसे प्रभावित होने का अवकाश मिलता रहा । वे अपने साम्राज्यों मे मन्दिर बनवाकर, तथा गोस्वामियो को जागीरें देकर कृष्ण-भक्ति की परम्परा को राजस्थान मे प्रसारित करने मे योग देने लगे । राजस्थान पर मुगल साम्राज्य की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना तथा राजाओं और धार्मिको के ब्रज मंडल के विशेष सम्पर्क के कारण यहाँ के सारे ही विभिन्न राजाओं की राजनीतिक तथा सास्कृतिक विचारधाराओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ने लगा जिससे राजस्थान मे पुनः नवजीवन के अंकुर फूटने लगे तथा नवीन सम्मिश्रित राजस्थानी संस्कृति का उद्भव हुआ । धार्मिक स्थलों में कृष्ण-भक्ति और सामंती जीवन में कृष्ण की श्रृंगारपरकता का विशेषतया प्रसार होने लगा, जिसका श्रेय ब्रज मंडल के प्रभाव और मुगल दरबार के सम्पर्क को दिया जा सकता है ।

३. मूर्तियों का संरक्षण

औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता तथा हिन्दू विरोधी कट्टर नीति के कारण सुप्त धार्मिक प्रवृत्ति फिर से जाग उठी। औरंगजेब ने समूचे मुगल साम्राज्य के हिन्दू तीर्थो पर समय-समय पर भरने वाले धार्मिक मेलो को पूर्णतया बन्द कर देने तथा नवीन मन्दिर बनाने पर रोक लगा दी। १६६६ की एक सर्वव्यापी आज्ञा द्वारा इस्लामेतर अन्य धर्मावलंबियों के सारे मन्दिर, पूजा-घरों और पाठशालाओं को ध्वस्त कर देने, तथा धर्म ग्रन्थों के पठन-पाठन या पूजा-पाठ और धार्मिक कृत्यो के सार्वजनिक रूप से किये जाने को पूर्णतया दबा देने का आदेश दिया गया, जिसके फलस्वरूप राजपूत मुगल सम्बन्ध टूटने लगे तथा ब्रज के मन्दिरो की तोड़फोड़ होने लगी ऐसी परिस्थिति में ब्रज के आचार्य और मन्दिरों के अधिकारी गणो ने उन विशाल भव्य सुन्दर मन्दिरों का मोह छोड़ दिया और वहाँ की पूज्य मूर्तियों को विनाश से बचाने का वे आयोजन करने लगे। राजस्थान ही ऐसा प्रमुख प्रदेश था जहाँ उन्हें शरण मिल सकती थी। अतः आराध्यदेव की मूर्तियाँ लेकर वे परिचित राजाओ के यहाँ शरण लेने के लिये चल पड़े। ब्रज मंडल का गढ़ टूट गया। वहाँ की कृष्ण-भक्ति परम्परा ने राजस्थान मे आश्रय प्राप्त किया। मीरा द्वारा तैयार की गई भावभूमि पर विभिन्न राजाओ द्वारा प्रज्वलित कृष्ण-भक्ति आन्दोलन तीव्र वेग से प्रतिष्ठित होकर प्रसार पाने लगा।

४. शृंगार परक सामंती जीवन

१७ वी शताब्दी विक्रमी मे मुगल वैभव अपनी चरमसीमा पर था— उस समय के साहित्य एव चित्रकला पर तत्कालीन अपार वैभव अतुल ऐश्वर्य की गहरी छाप पड़ी है। मुगल प्रभाव एवं शान्ति समृद्धि के कारण रीतिकाल मे राजस्थान के राज-दरवारो में वैभव, विलास का जीवन प्रज्वलित हो उठा। औरंगजेब की कट्टर नीति और कलाओ के प्रति उदासीनता के कारण अनेक कलाकार छोटे-छोटे राज दरबारों में आश्रय पाने लगे। आश्रयदाताओं की भोगविलास की प्रवृत्ति के कारण उनकी रुचि शृंगार की ओर विशेष थी, उनका रहन-सहन, खान पान, हास-विलास तथा कलात्मक परिवेश शृंगारी भावना से ओतप्रोत था। ऐसी स्थिति मे राजस्थान में पल रही सामंती शृंगार परक संस्कृति को राधा-कृष्ण के माधुर्य भाव मे और भी भभका दिया। राधा-कृष्ण का प्रेममय स्वरूप भौतिक शृंगारी प्रवृत्तियों के बहाने नायक-नायिका रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा जो विलासी राजाओ सामंतो जागीरदारो एवं कलाकारो की दमित वासनाओं की परितृप्ति का हेतु बना। इस प्रकार राधा-कृष्ण का भक्तिमय स्वरूप नायक-नायिका भेद में परिवर्तित होकर कलाओ के माध्यम से प्रसार पाने लगा जिसमें राजस्थान के शृंगार सामती जीवन का विशेष योगदान है।

सक्षेप मे अकबर की धार्मिक सहिष्णुता के कारण मुगल राजपूत सम्बन्ध बढे, राजस्थान का ब्रज मडल से और अधिक सम्पर्क स्थापित होने लगा तथा औरंगजेब की कट्टर नीति के कारण सम्बन्ध विच्छेद होने लगा। जिसके फलस्वरूप ब्रज मंडल का धार्मिक गढ़ टूट कर राजस्थान में धार्मिक प्रवृति को प्रसार देने लगा। राजा स्वतन्त्र होकर अपने यहां दरबारी जीवन भोगने लगे और राधा-कृष्ण की रंग-रेलियों के बहाने श्रृंगारी भावों को कलाओं के माध्यम से प्रचारित करने लगे।

५. प्रवृतक और आश्रय दाता —

राजस्थान में कृष्ण भक्ति आन्दोलन को प्रसारित करने का श्रेय पुष्ठिमार्गी आचार्यों को अधिक रहा है। पुष्ठिमार्ग के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य जी तथा उनके वशजों से राजस्थान के विभिन्न राजा और सामंत दीक्षित होते रहे हैं तथा अपने-अपने साम्राज्य मे कृष्ण भक्ति आन्दोलन को आश्रय देते रहे हैं।

मेवाड़ मे मीराबाई ने कृष्ण भक्ति की जो परम्परा स्थापित की थी वह जन समाज मे आदर पा चुकी थी मीरा के विरोधी होने पर भी मेवाड़ के राणा पुष्टि सम्प्रदाय के विस्तृत प्रभाव को इन्कार नही कर सके। मेवाड मे पुष्टि सम्प्रदाय को आश्रय महाराजा जगतसिंह (१६२८-१६५२) के राज्य काल मे ही मिल गया था। इन्होने गोकुल में गोस्वामी गिरधारी लाल जी से सत्सग किया तथा उन्हे आसोटिया ग्राम भेंट किया था। मेवाड़ में कृष्ण-भक्ति का आन्दोलन का प्रत्यक्ष प्रभाव नाथद्वारा मे श्रीनाथ जी के स्वरूप के स्थापन से ही मानना चाहिये। सिंहासनारूढ होने के कुछ उपरान्त से ही औरंगजेब अपनी अनुदार नीति बरतने लगा। सन् १६६९ की एक सर्वव्यापी आज्ञा द्वारा उसने इस्लामेतर अन्य धर्मावलबियो के सारे मन्दिर, पूजा घरों और पाठशालाओ को ध्वस्त कर देने तथा धर्म-ग्रन्थो के पठन-पाठन और धार्मिक कृत्यो के सार्वजनिक रूप से किये जाने को पूर्णतया दबा देने का आदेश दिया। मन्दिरों की तोड़-फोड़ की इस आज्ञा के मिलते ही समाज मे तहलका मच गया। ब्रज प्रदेश के कुछ मन्दिरो के पुजारियो तथा उसके भक्तों ने उन विशाल भव्य सुन्दर मन्दिरो का मोह छोड़ दिया, और वहाँ की पूज्य मूर्तियो को विनाश से बचाने का वे आयोजन करने लगे। गोवर्धन पर्वत पर स्थित वल्लभ-सम्प्रदाय वालों के गिरिराज के प्रमुख मन्दिर की श्रीनाथजी के विग्रह को लेकर वहाँ के गोस्वामी (श्री दामोदरजी तथा उनके चाचा गोविन्द जी) सितम्बर ३०, १८६९ ई. को गोवर्धन से निकले। छिपते-छिपते वे बूंदी, कोटा, पुष्कर, किशनगढ़, तथा जोधपुर भी गये, परन्तु औरंगजेब के भय से उस मूर्ति को अपने राज्य मे रखना किसी ने स्वीकार नही किया, अत: अन्त मे राणा राजसिंह ने श्रीनाथ जी की इस मूर्ति का मेवाड में सहर्ष स्वागत किया और फरवरी १०, १६७२ ई० के दिन सीहाड़ गाँव में मूर्ति की स्थापना की गई, जो तब से ही नाथद्वारा कहलाने लगी। इसी प्रकार

गोवर्धन वाले द्वारकाधीश की मूर्ति को भी मेवाड़ ले जाकर कांकरोली में उसकी प्रतिष्ठा की गई।

इस प्रकार शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य तथा वैष्णव भक्तों के परम आराध्य स्वरूप श्रीनाथ जी के विग्रह के स्थापन से मेवाड़ वैष्णव धर्म का केन्द्र बन गया, जिसका प्रकाश राजस्थान में चारों ओर प्रकीर्ण होने लगा। श्री वल्लभाचार्य जी, श्री विट्ठलनाथ जी तथा अष्टछाप के कवियों के समय से ही वल्लभ सम्प्रदाय में आठ स्वरूपों की विशेष सेवा पूजा होती आई है। इसमें परम सेव्यस्वरूप श्री नाथजी का है। श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने अंत समय में उनकी सेवा अलग-अलग अपने सात पुत्रों को सौंप दी। बाद में औरंगजेब के अत्याचार से वल्लभ वैष्णव इन्हें जगह-जगह देशी रियासतों में ले गये। ये आठ स्वरूप इस प्रकार है—

स्वरूप	सेवा का वर्तमान स्थान	
१. श्री नाथ जी	नाथद्वारा (राजस्थान)	
२. श्री मथुरेश जी	कोटा	,,
३. श्री विट्ठल नाथ जी	नाथद्वारा	,,
४. श्री द्वारकेश जी	कांकरोली	,,
५ श्री गोकुल नाथ जी	गोकुल	उत्तर प्रदेश
६. श्री गोकुल चन्द्रमा जी	कामवन	राजस्थान
७. श्री मदन मोहन जी	कामवन	राजस्थान
८. श्री बाल कृष्ण जी	सूरत	गुजरात

उपर्युक्त विभाजन से ज्ञात होता है कि १७ वीं० शती के मध्योपरांत आठ स्वरूपों में से छः राजस्थान में ही स्थापित किये गये, जिससे आचार्यों का राजस्थान के राजाओं से पूर्व परिचय का सहज ही ज्ञान होता है। उपर्युक्त पीठों के माध्यम से कृष्ण भक्ति की परम्परा राजस्थान में तीव्रता से विकीर्ण हुई, जिसमें भी मेवाड़ का इतिहास वीरता, स्वतन्त्रता की रक्षा व कलाओं और धर्म के संरक्षण हेतु सदा अग्रणी रहा है।

उपर्युक्त पीठों के अतिरिक्त श्री महाप्रभु जी, गोस्वामी आदि की बैठकें तथा गोस्वामी कुल द्वारा पुष्ट किये गये राजा-महाराजाओं तथा धनी मानी नागरिकों द्वारा निर्मित देवालयों द्वारा संप्रदाय की समय-समय पर वृध्दि होती रही, जिससे राजस्थान के जनमानस में कृष्ण भक्ति की परम्परा पूर्णतः जम गई।

मेवाड़ के उपरान्त किशनगढ में वल्लभ संप्रदाय का पूर्ण प्रभाव रहा राज्य के संस्थापक राजा किशन सिंह,(१६०६) वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। वे नित्य गोपाल की पूजा किया करते थे। राजा रूप सिंह (१६४३-५८) वल्लभ संप्रदाय के गुरू के प्रपौत्र श्री गोपी नाथ के शिष्य थे। उन्होंने साम्राज्य में कल्याण राय की पूजा की

स्थापना कर समाज में वैष्णव धर्म को प्रसारित किया। किशनगढ़ में पुष्टिमार्ग का इतना प्रभाव था कि बादशाह शाहजहाँ ने राजा रूप सिंह को वल्लभाचार्य जी का अकबर कालीन चित्र भेंट किया। वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने की परम्परा राज्य में आगे तक चलती रही। राजा सावन्त सिंह अर्थात कवि नागरी दास जी ने गोपी नाथ जी के प्रपौत्र रणछोड़ जी द्वारा दीक्षा ग्रहण की और अन्त में राज काज का सारा कार्य त्याग कर वृन्दावन वास किया।

किशनगढ़ के राजा ही नही, वरन् रानियो, पासवानो, राजकुमारियों, आदि ने भी पुष्टमार्गीय कृष्ण-भक्ति आन्दोलन को बढ़ावा दिया। नागरीदास जी की माता कामवन ने श्रीमद्भगवत का छन्दोबध्द अनुवाद किया। उनकी बहन सुन्दर कुँवरी तथा प्रेयसी (वणीठणी) ने कृष्ण-भक्ति परक रचनायें कर तथा पूजा पाठ, मन्दिर निर्माण द्वारा उक्त आन्दोलन को प्रसारित किया।

जयपुर के राजा मान सिंह के समय मे ही वल्लभ संप्रदाय का प्रभाव रहा है। विट्ठल नाथ जी का परिचय भारत सम्राट अकबर, बीरबल, राजा, मान सिंह आदि थे। वृन्दावन मे राजा द्वारा निर्मित गोविन्द देव जी का मन्दिर उनकी कृष्ण-भक्ति का परिचायक है। बाद मे औरंगजेब की कूटनीति के कारण मन्दिर की मूर्ति आम्बेर लाई गई, जो आज भी गोविन्द देव जी के मन्दिर मे पूजा हेतु प्रतिष्ठित है। जयपुर में बल्लभ सप्रदाय का पूर्ण प्रभाव राजा प्रताप सिंह के समय (१७७६-१८०३) में रहा। वे कृष्ण-भक्त और पुष्टिमार्गी उपासना के अनुयायी थे। उनके समय में श्री गोकुल नाथ जी (चतुर्थ स्वरूप) श्री गोकुल चन्द्रमा जी (पचम स्वरूप) तथा श्री मदन मोहन जी (सप्तम स्वरूप) जयपुर में ही बिराजते थे। उपर्युक्त तीनो 'स्वरूप' जयपुर कब पधारे यह अनिश्चित है, पर लगभग १०० वर्ष तक ये स्वरूप यहां रहे, जिससे कृष्ण भक्ति की रस धार जन-समाज को परिप्लावित करती रही। समय-समय पर राजाओं तथा रानियो द्वारा मन्दिरों का निर्माण होता रहा जो उनकी धार्मिक प्रवृति तथा कृष्ण भक्ति आन्दोलन का परिचायक है।

बीकानेर मे कृष्ण-भक्ति की परम्परा प्रारम्भ से ही रही है। वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि बीकानेर के राजा पृथ्वी सिंह आशुकरण, तथा रानी दुर्गावती आदि विट्ठल नाथ जी के शिष्य हो गये थ। वहाँ के बने अनके मन्दिर कृष्ण-भक्ति परम्परा के साक्षी हैं। जयपुर के महाराजा राम सिंह जी महन्तों के प्रभाव मे आकर पुष्टिमार्गीय आचार्यो से अनबन कर बैठे, जिसके फलस्वरूप पंचम तथा सप्तम स्वरूप जयपुर छोड़कर संवत १९२३ मे बीकानेर पधार गये, जहां महाराजा सरदार सिंह जी ने उनकी आव भगत कर राजरत्न बिहारी जी के कलात्मक मन्दिर मे प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार बीकानेर भी कृष्ण-भक्ति परम्परा के प्रचार में अग्रणी रहा है।

कोटा का राजवंश महारावल भीम सिंह जी के समय (१७०५-१७२०) में बल्लभ संप्रदायानुयायी हो गया था। इन्होने संवत् १७६५ मे बारां मे सांवला जी का मन्दिर

बनवाया था, तथा अपने महल, राजधानी आदि भगवान को अर्पित कर अपने आप कृष्ण दास नाम धारण कर लिया और कोटा का नन्दग्राम तथा शेरगढ का नाम बरसाना रख दिया था। कोटा के नीजि महलो से श्री ब्रजनाथ जी का पुष्टिमार्गीय मन्दिर परम्परा से स्थापित है। पुष्टिमार्गीय सात पीठों में से प्रथम पीठ श्री मथुरेश जी की कोटा मे सैकड़ो वर्षो से कृष्ण-भक्ति की परम्परा को आन्दोलित करती रही है। कोटा और बून्दी के राज महलों मे बनें कृष्ण लीला सबंधी भित्ति-चित्र तथा दुर्जन साल जी के समय मे चित्रित एवं लिखित कोटा शैली मे वल्लभोत्सव चँद्रिका नामक सचित्र ग्रन्थ पुष्टिमार्गीय प्रभाव के साक्षी हैं। इन्ही कारणों से कोटा भी कृष्ण भक्ति परम्परा का एक तीर्थ स्थान गिना जाता है।

कृष्ण भक्ति आन्दोलन के प्रसार मे जोधपुर का भी महत्वपूर्ण हाथ रहा है। ब्रजराज ने उसे ब्रजभूमि ही बना दिया। श्री बालकृष्ण जी, श्री मदन मोहन जी, श्याम मनोहर जी आदि के मन्दिर जोधपुर की जनता को भक्ति रस की धार में रस मग्न करते रहे हैं।

अलवर ब्रज भूमि के पास होने के कारण कृष्ण भक्ति से अत्यधिक प्रभावित रहा है। अलवर राज्य के संस्थापक राजा प्रताप सिंह जी गोविन्द देव जी के उपासक थे। बख्तावर सिंह जी स्वयं कृष्णोपासक भक्त कवि थे। राजा विनय सिंह भक्त एवं कला -प्रेमी राजा थे। उन्होने अनेक मन्दिरो का निर्माण तथा काव्य ग्रन्थों का चित्रण करवा कर कृष्ण भक्ति परम्परा का निर्वाह किया।

संक्षेप में उदयपुर, कोटा, भरतपुर किशनगढ, आदि स्थान कृष्ण-भक्ति परम्परा के प्रमुख केन्द्र रहे है तथा जयपुर, जोधपुर बीकानेर,बून्दी,अलवर; आदि स्थानो में आचार्यो, गोस्वामियो, पुजारियो आदि का पूर्ण स्थान रहा है। स्थान-स्थान पर बने मन्दिर और उनकी जागीरें इस कथन की साक्षी है।

इतर प्रसारक

कृष्ण-भक्ति के प्रसार मे साप्रदायिक आचार्यो एव आश्रयदाता राजा और रानियो के अतिरिक्त अन्य प्रसारकों का भी योगदान महत्व पूर्ण है, जिनकी देन के आधार पर ही उसका स्वरूप आज दृष्टिगोचर होता है। वास्तव मे तो धर्माचारियों के भावो को तथा राजा रानियोंकी कल्पना को साकार रूप प्रदान करने वाले उपर्युक्त कलाकार ही थे।

राजस्थान में कृष्ण-भक्ति जिन कलात्मक माध्यमो के द्वारा प्रसारित हुई है, उसमे बाहर के कृष्ण-भक्त कवियो के काव्य का प्रभाव विशेष रहा है। श्रीमद्भागवत, गीतगोविन्द, विद्यापति पदावली, सूरसागर,रसिकप्रिया, आदि काव्यो ने राजस्थान की विभिन्न धार्मिक पीठों एव राजदरबारों में पलने वाली राधा-कृष्ण संबंधी भक्ति तथा शृंगारिकता को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया है। सच बात तो यह है कि राजस्थानी

चित्रकला ने अधिकतर आधार ही उपर्युक्त ग्रन्थों को बनाया है। राजस्थान के कवियों तथा अन्य मत कवियो के काव्य पर भी उपर्युक्त काव्यों का प्रभाव विशेष दृष्टव्य है।

राजस्थान मे कृष्ण-भक्ति की भावधारा को प्रसारित करने मे मीराबाई का महत्वपूर्ण स्थान है, जिनका विवेचन पीछे हो चुका है। भक्ति काल से भी अधिक कृष्ण परक रचनायें रीतिकाल मे रची गई। कहने की आवश्यकता नही की शृंगार की ही दिशा में रीतिकालीन कृष्णकाव्य विविधरूप में सृजित हुआ है। उसका एक स्वरूप भक्ति का था और दूसरा नायक-नायिका भेद का। मीराबाई के अतिरिक्त अन्य राजस्थान के कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण के रीतिकालीन शृंगार परक नायक-नायिका भेद को ही अधिक अपनाया। राजस्थान के राजदरबारों में आश्रय पाने वाले कवियों में बिहारी, मतिराम तथा पदमाकर का नाम विशेष उल्लेखनीय है कुछके राजा भी ऐसे हुये हैं, जो स्वयं कृष्ण-भक्त और उच्च कोटि के कवि थे। किशनगढ के नागरीदास, जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह, जयपुर के बृजनिधि (प्रतापसिंह) अलवर के बख्तेश (बख्तावरसिंह) आदि का नाम उल्लेखनीय है। उपर्युक्त कवियों ने भक्तिपरक एवं शृंगारपरक रचनाएँ कर कृष्ण-भक्ति को राजस्थान में प्रसारित किया।

कवियों ने शब्दो के माध्यम से कृष्ण काव्य की रचना कर कृष्ण-भक्ति को प्रसारित किया, और धार्मिक पीठो एवं राज दरबारों मे कृष्ण चरित्र तथा कृष्ण काव्य को आधार बना कर चित्रण करने वाले असंख्य चित्रकारो ने रंग और रेखाओ के माध्यम से राधा-कृष्ण की लीलाओं का विस्तार किया। नाथद्वारा जैसे धार्मिक स्थलों मे श्री नाथ जी के प्राकट्य और उनके शृंगार सवंधी विविध रूपों के असंख्य चित्र बनने लगे। कलाकारो ने निष्ठापूर्वक श्री नाथ जी के विभिन्न उत्सवो के अनुकूल पिछवाइयां और भित्ति चित्र बनाना प्रारम्भ किया। दान-लीला, मान लीला, रास लीला आदि की दृश्यावलियां कपड़े और कागज पर बनने लगी। मन्दिर की यह सांस्कृतिक धारा हाटो और गलियों मे बह चली। राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, काठियावाड़ आदि स्थानों से धार्मिक प्रवृति के भक्त जन श्री नाथ जी के दर्शनार्थ आते थे और उनके विग्रह के चित्र और पिछवाइयां खरीद कर ले जाते थे। इस प्रकार मथुरा से आये हुये भक्त चितेरों के साथ मेवाड की धार्मिक आस्था से परिपूर्ण गौड़ और जागिड़ ब्राहम्णों ने भी इस पावन काम में अपना योगदान दिया। आज भी जबकि नाथद्वारा की कला अत्यधिक हल्की और साधारण हो गयी है, फिर भी बीस पच्चीस कुटुम्ब इस कार्य में संलग्न हैं। जीवकोपार्जन के साथ ही कृष्ण-भक्ति की धारा को प्रचारित और प्रसारित करने मे इन कलाकारो का विशेष योगदान रहा है।

दूसरी ओर अकबर कालीन समन्यवादी भावना, जागीर की विलास प्रियता और शाहजहां की अलंकृत वैभव पूर्ण कलाप्रियता और विलासिता आदि ने भारतीय कला, साहित्य और संस्कृति को नवीन मोड़ दिया। राजस्थान के राजा जिन्होंने मुगल दरबार से भोग-विलास, ऐश-आराम, कलाप्रियता आदि का पाठ पढ़ा था, वे

ही औरंगजेब की कट्टर नीति के कारण मुगल दरबार से विमुख होकर अपने-अपने राज्यों में दरबार सजाने लगे औरंगजेब के समय मुगल दरबार के संरक्षक के अभाव मे अनेक कलाविदों ने विभिन्न सामंतों एवं नरेशो की शरण ली क्योंकि उनके दरबार में कलावन्तों तथा कवियो की उपस्थिति उनके गौरव की प्रतीक थी।

राजस्थान के नरेशों तथा सामन्तों की छत्रछाया में हिन्दी कविता का दरबारी रूप पनपा। ओरछा, कोटा, बून्दी, जयपुर, जोधपुर आदि राज दरबारो मे भी वही प्रदर्शन प्रधान और श्रृंगारपरक जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति कलाओं मे होती रही। उनके दरबार में कवियों, मुसव्विरों और कलावन्तों का जमघट रहने लगा। उपर्युक्त कलाकार अपने आश्रय दाताओं के मनोनुकूल भावों की अभिव्यक्ति करने लगे, जिसमें राधा कृष्ण की श्रृंगारपरक भावनाओं को ही प्रमुखतया आधार बनाया गया। रीतिकाल तक पहुँचते-पहुँचते तो राधा-कृष्ण का प्रेममय भक्ति स्वरूप भौतिक श्रृंगारी प्रवृतियों के बहाने नायक-नायिका के रूप मे प्रस्तुत किया जाने लगा, जो विलासी राजाओं, सामंतों, जागीरदारों एवं कलाकारो की दमित वासनाओं की परितृप्ति के लिये काव्य एवं चित्रकला के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ। आश्रयदाताओं को प्रसन्न कर धन प्राप्त करने के लिये कवियों और चित्रकारो ने नायक-नायिका भेद सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे और चित्र बनाये। सूर के राधा-कृष्ण का स्वच्छंद प्रेम महलो, अट्टालिकाओ, उपवनों और सरोवरो के दरबारी वातावरण में सिमट कर रह गया। नायिका के सीमित शारीरिक सौन्दर्य और सामंती संस्कृति के सीमित वातावरण में कृष्ण भक्ति की सरलता और स्वच्छंदता अलंकारिका और चमत्कारी चित्रांकनो मे उलझ कर रह गयी। राजस्थानी चित्रकला में कृष्ण का श्रृंगार परक चित्रण इस कथन का साक्षी है। अतः कृष्ण-भक्ति की श्रृंगारपरक भावधारा को रीतिकालीन प्रभाव देने और चित्रांकन करने में राजस्थान के अनेक चित्रकारों का योगदान रहा है। उनमें से आज बहुत कम के नाम उपलब्ध हैं। इस प्रसंग में किशनगढ के मोरध्वज, निहालचन्द, बीकानेर के रुक्नुद्दीन, नूरउद्दीन, उदयपुर के शाहबुद्दीन, जयपुर के साहिब राम आदि के नाम अविस्मरणीय हैं।

वास्तुकारों ने भी राजस्थान के विभिन्न शहरो, धर्म पीठों एवं ठिकानों आदि मे अनेक राधा-कृष्ण संबंधी मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण कर कृष्ण-भक्ति परम्परा के प्रचार एवं प्रसार मे, जो योग दिया है, वह बेजोड है। अट्ठारवी, उन्नीसवी शती में रानियों ने लगभग प्रत्येक राज्य मे बड़े २ चौक के हवेली नुमा मन्दिर बनवाए, जो स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

विभिन्न प्रसारकों का अन्योन्याश्रित संबंध

कृष्ण-भक्ति के प्रचार में उपर्युक्त आश्रयदाताओं, धर्माचारियों एवं कलाकारो का जो महत्वपूर्ण योगदान रहा है, उसमे उनके अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का सहज ही परिचय

मिलता है। धार्मिक प्रतिष्ठान एवं राज दरबार दो ऐसे स्थल थे, जहां कला और कलाकारो का संबध स्थापित हुआ। दोनो स्थलों में कला भी वहा के वातावरण के अनुकूल दो धाराओ मे बह चली। एक मे जन मानस संबंधी लोकतत्व का अधिक प्रभाव था तो दूसरे मे राजसी वैभव की चमक-दमक का अधिक प्रदर्शन। आश्रयदाता राजा और उनकी रानियाँ, पासवान, सामत, जागीरदार आदि धर्म एवं कलाओ के पोषण हेतु अपने दरबार की शोभा के लिये तथा मनोरंजन हेतु, कवियों, मुसव्विरों, कलावन्तो आदि को समय-समय पर आश्रय देते रहे हैं। गुणीजन खाने के उपर्युक्त कलाकार अपने आश्रयदाताओं के मनोवाछित भावो को अपनी कला द्वारा अभिव्यक्ति देते थे, अत. धर्माचार्य कृष्ण-भक्त राज वर्ग को कृष्णचरित्र सम्बन्धी भावो से प्रभावित करते थे एव उनकी रूचि और मनोवाछित भाव धाराओं को कलाकार काव्य, चित्रकला आदि के माध्यम से अभिव्यक्त जीवनयापन करते थे। कलाकार स्वयं भी भक्त एवं कृष्ण-चरित्र के अनुरागी होते थे, इसलिए एक दूसरे की कलाओ से प्रभावित होकर भावो या विषय-वस्तु का आपसी आदान-प्रदान किया करते थे। काव्य को आधार बना कर रचा गया काव्य और पदों का गायन आदि कलाकारों के अन्योन्याश्रित सबध का परिचायक है।

संक्षेप मे एक ही परिवेश मे रहने वाले कलाकार अपने आश्रयदाताओं की अभिव्यक्ति के माध्यम थे, जिनके परिश्रम का फल आज काव्य और चित्रकला के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। विभिन्न प्रसारकों मे अन्योन्याश्रित सबंध स्थापित करने का श्रेय, कथ्य की एकता को है। यह कथ्य की एकता कृष्ण चरित्र की विभिन्न लीलाओ एव उनकी श्रृंगार परक ऐन्द्रियजन्य भावधाराओं से अधिक सम्बन्धित थी।

काव्य एवं चित्रकला के विकास में योग

उपर्युक्त प्रसारकों के अन्योन्याश्रित संबंध के कारण काव्य एवं चित्रकला के विकास एवं प्रसार में विशेष योगदान रहा है। बहुत से राजा तथा रानियाँ स्वयं काव्य कार और चित्रकार थे, तथा राज दरबार मे स्थित गुणीजन खाने के माध्यम से काव्य एवं चित्रकला की रसधार अनवरत बहती ही रहती थी। राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं तथा उनके बहाने नायक-नायिका भेद सम्बन्धी काव्य की सृष्टि और कृष्ण काव्य संबंधी ग्रन्थों पर आधारित चित्रण राजस्थान के विभिन्न राज दरबारो की पारस्परिक विशिष्टता थी। इस प्रकार सामंती समाज के और धार्मिक प्रतिष्ठानों के माध्यम से कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी काव्य और चित्रकला की जो रसधार बही वह विशेष उल्लेखनीय है।

काव्य एवं चित्रकला के विकास एवं प्रसार में साम्प्रदायिक आचार्यों एवं अन्य भक्तो का योग भी कम महत्व का नहीं है। उन्होने कृष्ण के रीतिभाव के स्वरूप भगवत विषयक रति, दामपत्यरति, और वात्सल्यरत के जो इन्द्रधनुषी स्वरूप प्रस्तुत किये हैं, वे ही आगत पीढ़ी के कवियों एव चित्रकारों के चित्रण के आधार रहे हैं।

आचार्य स्वयं कवि होते थे, एवं साकार को प्रसारित करने के लिये चित्रकला को उपर्युक्त माध्यम समझते थे। श्री महाप्रभु वल्लभचार्य पुष्टीमार्ग की भक्ति के प्रचार एवं प्रसार में ललित कलाओं के योग को बहुत प्रोत्साहन दिया। स्वयं महाप्रभु जी ने भारत के तत्कालीन चित्रकार "होनहार" को अपना चित्र अंकित करने की अनुमति दी। यही पुष्टिमार्ग में चित्रकला को विशिष्ट स्थान दिये जाने का प्रमुख कारण हुआ। वल्लभाचार्य जी के सुपुत्र श्री विट्ठलनाथ जी स्वयं चित्रकला मे निपुण थे। उनका बनाया हुआ बाल कृष्ण का चित्र आज तक विद्यमान है।

संक्षेप में काव्य और चित्रकला के विकास में कृष्ण भक्ति के स्वरूप का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, जिससे हिन्दी कृष्ण काव्य और राजस्थानी चित्रकला विशेषतया प्रभावित हुई है।

निष्कर्ष —

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि कृष्ण-भक्ति परम्परा ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को नवीन चेतना प्रदान की। १२ वी १३ वी शताब्दी से १६ वी शती तक कृष्ण-भक्ति आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर १७ वी शती से धर्म का केन्द्र बिन्दु बन गया। १७ वी शती के मध्य तक लीला बिहारी कृष्ण की भक्ति का गढ़ ब्रज मंडल रहा, पर औरंगजेब की धर्म विरोधी प्रवृत्ति के कारण यहाँ का गढ़ विशृंखल हो गया। राजस्थान सौभाग्यशाली प्रान्त था जो अपनी वीरता, धर्म संरक्षणता तथा सामंती शृंगारपरकता के कारण कृष्ण-भक्ति आन्दोलन का प्रमुख कारण बन गया। माधुर्यपूर्ण कृष्ण की लीलायें राजस्थान के कोन-कोन में विस्तार पाने लगी। धर्माचार्यों ने पीठ स्थापित कर गोस्वामियों एव अन्य पुजारियों ने मन्दिर बनवा कर, राजाओं, रानियो, सामंतो, जागीरदारो आदि ने कृष्ण भक्ति को पोषित कर तथा कवि, मुसव्विर, कलावन्त, राज आदि ने कृष्ण के माधुर्य स्वरूप को अंकित कर कृष्ण-भक्ति की जो अजस् धार बहाई है वह अविस्मरणीय है।

मध्यकालीन भारत कृष्ण-भक्ति के मधुर रंग में रंगा हुआ है। कथ्य की एकता तथा कला के आश्रय दाताओं एव कलाकारों के आपसी संबंधो के कारण कृष्ण चरित्र का स्वरूप कविता, चित्रकला, संगीत, वास्तुकला आदि में उभर कर आया है। उसका तुलनात्मक विवेचन इतिहास, साहित्य, एवं कला जगत के ज्ञान में निश्चय ही नयी दिशा प्रदान करता है।

□

राजस्थानी चित्रकला : काव्य का प्रतिरूप

काव्य और चित्रकला का संगम स्थल यदि कहीं है तो वह राजस्थानी चित्रकला के सचित्र ग्रंथो एवं लघु चित्रो मे सहज ही देखा जा सकता है। काव्य को आधार बना कर चित्र बनाने की यह परम्परा राजस्थान की विभिन्न चित्र शैलियों में सर्वाधिक उपलब्ध है। कुमार स्वामी का कथन है कि "राजपूत चित्रकला तो भारतीय साहित्य की ही प्रतीक है। भारतवर्ष मे और विशेषत: राजस्थान मे साहित्य ने कला का रूप समृद्ध किया है और कला ने साहित्य की व्याख्या की है।" काव्य की प्रतिरूप राजस्थानी चित्रकला का अपना एक इतिहास है।

ससार की चित्रकला मे भारतीय चित्रकला अपना निजी व महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अजन्ता के जगत प्रसिद्ध भित्ति चित्र इस कला की अमर धरोहर है। बौद्ध और जैन कलाओं तथा पाल, गुजरात, अपभ्रंश राजस्थानी, मुगल, पहाडी आदि शैलियो ने भारतीय चित्रकला के गौरव को ईसा पूर्व दूसरी शती से आज तक सुरक्षित रखा है। चित्रकला की इस शृंखला में अजन्ता की परम्परा को निभाने वाली राजस्थानी चित्रकला का अपना निजी सांस्कृतिक परिवेश और स्थान है।

नामकरण

राजस्थानी चित्रकला के नामकरण पर विद्वानो के विभिन्न मत हैं। अनेक तर्क वितर्कों के उपरांत भी कोई इसे 'राजपूत चित्रकला' और कोई 'राजस्थानी चित्रकला' कहता है। राजस्थानी चित्रकला का सबसे पहला मनोवैज्ञानिक विभाजन स्वर्गीय आनन्द कुमार स्वामी ने 'राजपूत पेण्टिग' नामक पुस्तक मे सन् १९१६ में किया। उनके अनुसार 'राजपूत चित्रकला' का विषय राजपूताना और पजाब की पहाडी रियासतों से सम्बन्धित है। राजपूत चित्रकला को भी उन्होंने दो भागों मे विभाजित किया है :—

(१) राजस्थानी–अर्थात् राजपूताने से सबंधित और (२) पहाडी–अर्थात् जम्मू, काँगड़ा, गढ़वाल, बसौली, चबा आदि पहाड़ी रियासतों से संबंधित।

इन रियासतों के अधिकारी प्रमुखतया राजपूत राजा होने के कारण इसे राजपूत चित्रकला नाम से अभिहित किया गया। उनके अनुसार राजस्थानी चित्रकला का प्रसार बीकानेर से गुजरात की सीमा तक और जोधपुर से ग्वालियर तक रहा है तथा आम्बेर, ओरछा, उदयपुर, बीकानेर आदि कला केन्द्र रहे हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के अनुसार राजपूत चित्रकला के अन्तर्गत राजस्थानी शैली के सभी चित्र आ जाते हैं। जो प्रदेश अंग्रेजी शासन काल में राजपूताना कहलाता था, वह (थोड़े से हेर-फेर से) स्वतन्त्रता के बाद 'राजस्थान' कहलाया। अंग्रेजों से पूर्व यह सारा प्रान्त कभी किसी एक नाम से प्रसिद्ध रहा हो, ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। टॉड ने ही सर्व प्रथम इस सारे प्रदेश को 'रायथान' या 'राजस्थान' नाम दिया था, अतः राजस्थानी चित्रकला से हमारा तात्पर्य उस चित्रकला से है जो इस प्रांत की अमर धरोहर है और जिसने अनेक कला पारखियों एवं कला प्रेमियों को अपनी ओर आकर्षित किया है।

उद्भव और विकास

राजस्थानी चित्रकला के जन्म स्थल, समय तथा विकास की परिस्थितियों का इतिहास अभी प्रकाश की प्रतीक्षा में है। विभिन्न विद्वानों ने राजस्थानी चित्रकला की अनेक शैलियों पर पुस्तकें लिख कर १७ वीं शती और उसके बाद के इतिहास को प्रकाश में ला दिया है, किन्तु इससे पूर्व का इतिहास मतभेद पूर्ण है। चित्रकला मर्मज्ञ डॉ० हरमन गेत्स का कथन है कि "कठिनाई से एक-आध वर्ष बीतता है कि राजस्थानी चित्रकला संबंधी नवीन खोज हमारे पूर्व निर्णयों को सर्वथा बदल देती है। मुख्यतः मेवाड़ शैली सम्बन्धी नवीन खोजों ने अनेक प्रश्न खड़े कर दिए हैं।"

पाश्चात्य विद्वानों के प्रारम्भिक मतों के आधार पर राजस्थानी शैली, मुगल शैली के बाद विभिन्न रियासतों में पनपने वाली शैली मानी गयी थी, किन्तु नवीन खोजों के आधार पर आज से वर्षों पूर्व जो निष्कर्ष निर्धारित किये गये थे, वे अमान्य ठहरा दिए गये हैं। अनेक उपलब्ध प्राचीन चित्रों के आधार पर यह तो प्राय: निश्चित मान लिया गया है कि राजस्थानी चित्रकला प्राचीन भारतीय चित्रकला की पारम्परिक चित्र शैली की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

तिब्बती इतिहासकार तारानाथ (१६ वीं शती) ने मरूप्रदेश (मारवाड़) में ७ वीं शती में श्रीरंगधर नामक चित्रकार की चर्चा की है, किन्तु उस समय के चित्र अनुपलब्ध हैं। भारतवर्ष के तात्कालिक इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि ५ वीं शती से १२ वीं शती तक का काल राजस्थान के इतिहास में महत्त्वपूर्ण युग था। ८ वीं से १० वीं शती में यह प्रदेश गुर्जरत्रा कहलाता था, अतः यहाँ अन्य कलाओं के उत्थान के साथ चित्रकला भी विकास पाती रही होगी। उपलब्ध सचित्र ग्रन्थों में वि० सं० १२१६ का भद्रबाहु स्वामी रचित सचित्र 'कल्पसूत्र' भारतवर्ष के पश्चिमी भाग का प्राचीनतम कलात्मक ग्रन्थ है। राजस्थान में चित्रित ताडपत्रीय प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ "सावग पडिकमण सुत्त चुन्नी" (श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णी) है, जो अहाड़ (उदयपुर) में सन् १२६० में गुहिल्ल तेजसिंह के राज्यकाल में चित्रित हुआ और जिसकी साज-सज्जा नागदा और चित्तौड के मोकल के मंदिर की तक्षण कला की समता में है। दूसरा प्रमुख उदाहरण मोकल के शासन काल में देवकुलपाटक (देलवाड़ा) में सं० १४४८ में लिखित एवं चित्रित

ग्रन्थ "सुपासनाहचरियम्" (सुपार्श्वनाथ चरितम्) है। इसमें राजस्थानी चित्रण की भावभूमि पर जैन एवं गुजरात शैली का पूर्ण प्रभाव है। इसी शैली की कड़ी में सन् १४१६ का "कल्पसूत्र" भी उल्लेखनीय है, जिसकी वेश-भूषा कुंभा के विजय स्तम्भ की मूर्तियों की वेशभूषा के अनुरूप है।

लगभग सन् १४५० के आसपास पश्चिमी भारत में एक प्रति "गीत गोविन्द" और दो 'बालगोपाल स्तुति' चित्रित की गयी, जो कृष्ण चरित्र संबंधी प्रथम उपलब्ध चित्रण है और जिसमें राजस्थानी के प्रारम्भिक चित्रण का बीजांकुर द्रष्टव्य है। सन् १४५१ में अपभ्रंश शैली में चित्रित "बसंत विलास" का प्रसिद्ध पटचित्र आचार्य रत्नगिरि द्वारा अहमदाबाद में लिखा गया जो राजस्थानी चित्रण के उद्गम पर विशेष प्रकाश डालता है। मेवाड़ के इतिहास में काव्य, संगीत और स्थापत्य की दृष्टि से राणा कुंभा (सन् १४३३–१४६८) का महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसा कला प्रेमी राजा चित्रकला के प्रति उदासीन रहा हो यह बात समझ में नहीं आती, किन्तु बिना आधार के कुछ कह पाना संभव नहीं है। केवल उनके दुर्ग (कुम्भलगढ) और कुम्भा महल (चित्तौड़गढ) के तत्कालीन भित्ति चित्रों के कुछ अवशेष अस्पष्ट रूप से अवश्य दिखाई देते हैं।

१५ वीं शताब्दी तक इस प्रकार जो चित्रशैली राजस्थान में प्रचलित रही वह बड़ी व्यापक शैली थी। जैन तथा जैनेतर ग्रंथों को आधार बनाकर जो चित्रण हुआ है उसे 'जैन शैली', 'गुजरात शैली', 'पश्चिमी भारतीय शैली' या 'अपभ्रंश शैली' आदि कुछ भी कहें, पर इसमें सदेह नहीं कि ७ वीं शती से १५ वी शती तक राजस्थान में मौलिक कला तथा अजन्ता-एलौरा परम्परा की कला के सामंजस्य में पैदा होने वाले सिद्धांतों के अनुकूल चित्रकला, मूर्तिकला तथा शिल्पकला की अविरल रूप से प्रगति होती रही थी। इस दृष्टि से राजस्थान और गुजरात में कोई भेद नहीं रहा। 'बागड़' तथा 'छप्पन' के भाग में गुजरात से अनेक कलाकार आकर यहां बसे जो आज भी सोमपुरा कहलाते हैं। महाराणा कुंभा के समय प्रसिद्ध शिल्पी मंडन वहीं से आकर बसा।

१२ वीं शती से १५ वी तक सचित्र ग्रंथों के जो उपर्युक्त उदाहरण प्राप्त होते हैं उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें राजस्थानी शैली का बीजांकुर अवश्य था। इन चित्रों के आधार अधिकतर जैन ग्रंथ है। चित्रों में सवा चश्म वाले चेहरे, गरुड की सी नाक, परवलों फाक सी आंख, घुमावदार, लंबी, पर ऐंठी हुई उंगलियां, अधिक उभरा हुआ वक्ष, अंग-भंगी, मुद्राएं एवं आसन अकड़े हुए, बादल, वृक्ष, पर्वत, नदी आदि के चित्रण में जकड़न के साथ अलंकरण का प्रावल्य एवं लाल–पीले रंगों का विशेष प्रयोग मिलता है।

तथ्यों के आधार के बिना यह कहना कठिन है कि प्रारम्भिक राजस्थानी चित्रकला १६ वीं शती में किस प्रकार और कहां-कहां विकसित हुई, किंतु अन्य उपलब्ध सचित्र ग्रंथों के आधार पर तत्कालीन राजस्थानी चित्रकला का परिवर्तित स्वरूप कुछ विशेषताओं

के साथ विकसित हुआ है। सन् १५४० में चित्रित ४१७ चित्रों से सुसज्जित गुजराती शैली का ग्रंथ 'आदि पुराण' भारतीय चित्रकला में दीप स्तम्भ के समान है। अपभ्रंश से प्रभावित होते हुए भी रंग, रेखाओं, शारीरिक गठन, प्रकृति चित्रण, वेशभूषा एवं भाव-भाव में राजस्थानी चित्रकला का प्रतीक यह ग्रंथ अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। अवधी काव्य 'मृगावती' जो २५० चित्रों से सुसज्जित है तथा सचित्र 'लोरचन्दा' भी इसी श्रेणी के ग्रंथ है। लगभग सन् १५८३ का पुन्य विजय जी संग्रहीत 'संग्रहणीसूत्र' तथा सन् १५९१ का 'उत्तराध्ययन सूत्र' नामक सचित्र ग्रंथो मे भी राजस्थानी चित्रकला का परिवर्तित स्वरूप विशेष उल्लेखनीय है। तत्कालीन 'चोर पचाशिका' तथा 'गीत गोविन्द, में इस चित्रकला की विशेष थाती उपलब्ध है।

राजस्थानी चित्रकला मे संबधित दो महत्वपूर्ण ग्रंथ और हैं जो भागवत पर आधृत हैं। उनमे से प्रथम सन् १५९८ में जो पोथीखाना जयपुर मे और दूसरा सन् १६१० में पुस्तक-प्रकाश जोधपुर मे सुरक्षित हैं, जो शायद कही राजस्थान ही मे चित्रित हुए हैं। इनमे राजस्थानी चित्रकला का विकसित स्वरूप अपनी विशेषताओं के साथ आविर्भूत हुआ है। राजस्थानी शैली में महाराणा प्रताप की राजधानी चांवड मे चित्रकार नसीरूद्दीन द्वारा चित्रित 'रागमाला सेट' प्रथम उपलब्ध चित्रमाला है जो राजस्थान की भूमि मे चित्रित हुई है। इससे आगे की परम्परा तो मेवाड़ शैली मे उपलब्ध है जो अनेक संग्रहालयो मे द्रष्टव्य है।

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह बात मान्य है कि तथाकथित 'राजस्थानी चित्रकला' की जन्मभूमि राजस्थान ही है और उसका केन्द्र मेदपाट (मेवाड़) रहा है। वास्तव मे तो राजस्थानी शैली अपभ्रंश शैली का नवीन उत्थान है। दूसरे शब्दो में ९ वी १० वी शती मे चित्रकला मे जो अवनति होती आ रही थी, उसके स्थान पर १५ वी शती में उन्नति का क्रम चल पड़ा। यह पुनरूत्थान गुजरात और दक्षिणी राजस्थान मेवाड मे हुआ जान पड़ता है। मेवाड़ का नाम राजस्थानी चित्रकला के जन्म और विकास के संबंध मे अन्य विद्वानों द्वारा भी लिया जाता रहा है। डॉ० हरमन ग्वेत्स का विचार भी इस बारे में मेवाड़ पर ही अधिक केन्द्रित रहा है। दक्षिणी राजस्थान मे मेवाड़, बांसवाड़ा तथा ईडर के पहाडी प्रांतों के वे भाग आते हैं जो प्राचीन काल से ही सूर्यवंशी राणाओं के आधीन रहे और गुप्त साम्राज्य के विघटन के उपरान्त भी भारतीय संस्कृति की मशाल अपने हाथो मे लिये रहे। अत: मेवाड़ के जिन सूर्यवंशियो ने अजन्ता-एलौरा के शिल्प को तत्परता से मध्य युग तक निभाया, उन्हें चित्रकला की समान परम्परा के निर्वाह में अक्षम मानना, उनके प्रति अन्याय और हमारी अज्ञता का ही परिचायक होगा।

"अस्तु राजस्थानी शैली का प्रारम्भ १५ वी शती के उत्तरार्द्ध और १६ वी शती के पूर्वार्द्ध (संभवत: १५०० ई० के आसपास) के बीच प्रतिपादित होता है।" राजस्थानी शैली का उद्‌भव अपभ्रंश शैली से गुजरात एव मेवाड मे काश्मीर शैली के प्रभाव द्वारा

१५ वी शती उत्तरार्द्ध मे हुआ। ऐसे भी कतिपय चित्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें कही भी मुगल प्रभाव नही पाया जाता। भारत कला भवन का बंगाली रागिनी वाला चित्र इन्ही मे से एक है। श्री रायकृष्ण दास का उपर्युक्त कथन आज अधिकृत रूप मे मान्य है, क्योकि जिस समय राजस्थानी चित्रकला का जन्म हो रहा था, उन दिनों मुगल साम्राज्य के संस्थापक अकबर के पितामह बाबर का जन्म हुआ। गुजरात का सुलतान महमूद बेगड़ा तथा मेवाड का महाराणा कुंभा, दोनो कला प्रेमी तथा कलाश्रय दाता थे। इस समय जैनुल आब्दीन के शासन काल मे काश्मीर में भी चित्रकला उन्नति पर थी, अत. मित्र राज्यो मे चित्रकला के क्षेत्र मे कोई पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ हो तो आश्चर्य नही।

अत विशुद्ध राजस्थानी चित्रकला का प्रारम्भ १५ वी शती के उत्तरार्द्ध और १६ वीं शती के पूर्वार्द्ध के बीच १५०० ई० के आसपास मानना चाहिये। गुजरात और मेवाड मे जिस समृद्धिशाली राजस्थानी शैली के उदय के कारण भारतीय चित्रकला की प्रसुप्त चेतना उद्‌बुद्ध हुई, वह अपभ्रंश शैली का ही नवीन संस्करण था। "भाव विधान एव आलेखन की दृष्टि से राजस्थानी शैली यद्यपि अपने अपूर्व नये परिवेश को लेकर आयी थी, किन्तु विषय-वस्तु के लिए उसने अपनी पूर्ववर्ती अपभ्रंश शैली का ही आश्रय लिया। रागमाला, शृंगार, ऋतु वर्णन, कृष्ण लीला आदि से संबधित जो उत्कृष्ट चित्र राजस्थानी शैली की देन है, उनका स्रोत अपभ्रंश शैली ही है।

इस प्रकार राजस्थानी चित्रकला का जन्म राजस्थान के ही प्रान्त मे हुआ। अन्य भारतीय शैलियो से प्रभावित होती हुई वह स्वतंत्र रूप से राजस्थान के वीर प्रदेश में पल्लवित हुई। राजस्थानी शैली के विकास में राजस्थान के प्राचीन इतिहास और भौगोलिक रचना का प्रमुख हाथ रहा है। वीर राजपूतों की भूमि के कण-कण में उनके शौर्य की गाथाएँ, सभ्यता और संस्कृति के पद चिन्ह काव्य, चित्रकला, स्थापत्य आदि के रूप में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। वास्तविकता तो यह है कि अपने प्राकृतिक निर्माण और मोहक वातावरण के कारण काव्य एवं कला की उद्‌भावना के लिए राजस्थानी धरती अत्यधिक उपयुक्त रही है

राजस्थानी चित्रकला का वर्गीकरण

राजस्थानी चित्रकला का विकास एवं निर्माण दूसरी अधिकाश शैलियो की भांति न तो एक स्थान में हुआ है और न ही कुछेक कलाकारो द्वारा। राजस्थान के जितने भी प्रमुख प्राचीन नगर, राजधानियां, तथा धार्मिक और सास्कृतिक प्रतिष्ठान हैं, वहाँ चित्रकला पनपी और प्रतिष्ठित हुई है। धर्म–पीठो, रियासतो के कलाप्रेमी राजाओ, सामतो और जागीरदारो का राजस्थानी चित्रकला के विकास और संवर्धन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। धार्मिक प्रतिष्ठानो के अतिरिक्त, कवियों, चित्रकारों, संगीतज्ञो, शिल्पाचार्यों आदि का जमघट दरबारो मे होने के कारण राजस्थानी चित्रकला की

अटूट धारा अनेक रियासती शैलियों और उप-शैलियों को परिप्लावित करती हुई १७वी १८ वी शती में अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँची, जिससे इसका समन्वित स्वरूप सामने आया। *अधिकांश रियासतों के चित्रकारो ने जिन-जिन तौर-तरीकों से चित्र बनाये,* स्थानानुसार अपनी मौलिकता, भौगोलिकता तथा सामाजिक विशेषताओं और राजनीतिक संपर्कों के कारण वहां की चित्रशैली कहलायी। इसके विभाजन के बारे में अनेक विद्वानों के विभिन्न मत होने के उपरात भी विभिन्न शैलियों को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित कर सकते है :—

(१) मेवाड़ शैली (उदयपुर तथा उपशैली नाथद्वारा सम्बन्धी)।
(२) बूंदी शैली। (३) कोटा शैली
(४) मारवाड़ शैली (जोधपुर तथा नागौर उपशैली सबधी)।
(५) किशनगढ़ शैली। (६) बीकानेर शैली।
(७) जयपुर शैली (उणियारा उपशैली सम्बन्धी)।
(८) अलवर शैली।

उपर्युक्त शैलियो में मेवाड, किशनगढ़ और बूंदी तो विश्व प्रसिद्ध शैली हैं। जिनके विस्तृत अध्ययन से ही उनकी विशेषताओं का ज्ञान हो सकता है।

राजस्थानी चित्रकला की विशेषताएं

१६ वी शती से १६ वी शती तक विभिन्न शैलियों, उपशैलियों मे परिपोषित राजस्थानी चित्रकला निश्चय ही भारतीय चित्रकला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अनेक समकक्ष शैलियो से प्रभावित होने के उपरान्त भी राजस्थानी चित्रकला का अपना मौलिक संविधान है। संक्षेप मे निम्नलिखित विशेषताओ के आधार पर राजस्थानी चित्रकला के सविधान को भली प्रकार समझा जा सकता है :—

(१) लोक जीवन का सानिध्य—भित्ति-चित्रण की परम्परा मे विकसित राजस्थानी चित्रकला का लोकजीवन से विशेष सानिध्य रहा है। प्रारम्भिक चित्रण में सादगी और सरलता तथा रंगो की अल्हडता और विषय वस्तु के चुनाव मे लोकजीवन की भावनाओ का बाहुल्य विशेष दर्शनीय है। दरबारी संस्कृति में परिपोषित चित्रकला में भी यह लोकतत्त्व विलग नही हुआ है। धार्मिक और सांस्कृतिक स्थलो मे पोषित चित्रकला जन जीवन की भावनाओ तथा लोकप्रिय विषयो से अधिक संबंधित रही है।

(२) भाव प्रवणता का प्राचुर्य.—राजस्थानी चित्रकला रस प्रधान है। भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्राकन उसमें विशेष रूप से हुआ है। राधाकृष्ण की माधुर्य भावना का विस्तृत और गहनतम चित्रण इस चित्रकला की प्रमुख विशेषता है। भक्ति और शृंगार का सजीव चित्रण विशेष देखने को मिलता है।

(३) विषय वस्तु का वैविध्य:—राजस्थानी चित्रकला विषय की दृष्टि से अत्यधिक विस्तृत है। राधाकृष्ण की विभिन्न लीलाओं, राम कथा, महाभारत और

भागवत पुराण की विभिन्न कथाए, नायक-नायिका भेद, राग-रागिनी, बारहमासा, लो
कलाए आदि असंख्य विषयों पर राजस्थानी चित्रकला आधारित है। काव्य का चित्र
शैली की अपनी निजी विशेषता है।

(४) **वर्ण वैविध्य**.—राजस्थानी चित्रकला में रंगों का जादू विशेष उल्लेखनी
है। लाल, पीला, श्वेत, और हरा इस शैली के प्रमुख रंग हैं, जिनके समन्वय से कल
कारों ने चित्रण को सतरंगा बना दिया है। चटकीले, चमकदार और दीप्तियुक्त रं
की सयोजता शैली में विशेष उल्लेखनीय है।

(५) **देशकाल की अनुरूपता**:–राजपूती सभ्यता और संस्कृति का तथा तत्का
लीन परिस्थिति का जीता जागता चित्रण राजस्थानी चित्रकला में विशेष द्रष्टव्य है
दुर्ग, प्रासाद, मंदिर, हवेलियां, दरबार आदि का राजपूती वैभव चित्रकला मे बारीकी
साथ चित्रित किया गया है। भक्तिकाल और रीतिकाल का सजीव चित्रण है।

(६) **प्रकृति परिवेश की अनुरूपता**:–राजस्थानी चित्रकला मे प्रकृति के विरा
परिवेश का बहुरंगी चित्रण हुआ है। कमलों से पूरित सरोवर, काले मेघो से आच्छन्
आकाश में सर्पाकार विद्युत रेखाएं, वन, उपवन, पेड़-पौधे, फूल-पत्तियां, पक्षियो मे भ
निकुंज, भृंग, मयूर, सिंह, हाथी आदि का सुन्दर चित्रांकन राजस्थानी चित्रकला क
अपनी विशेषता है।

भारतीय चित्रकला की सर्वोत्कृष्ट अजन्ता शैली की समृद्ध परम्परा को वहन
करने वाली राजस्थानी चित्रकला के महत्व को अब इन्कार नहीं किया जा सकता
मेवाड़ मे जन्मी एवं संपूर्ण राजस्थान मे शैलियों और उपशैलियों के माध्यम से विकसि
एव पल्लवित हुई राजस्थानी चित्रकला ने भारतीय कला जगत को विशेषतः समृ
किया है। राधाकृष्ण की विभिन्न लीलाएं, राजपूती-वैभव और सामंती जीवन क
झांकियां, धार्मिक उत्सव और त्यौहार, लोक कथा, आदि पर आधारित विषय राज
स्थानी चित्रकला के चित्रण के आधार रहे हैं। खेद का विषय है कि राज्य की लापर
वाही एवं धन लोलुपों की व्यावसायिक प्रकृति के कारण इस कला की अमर धरोह
नष्ट होती जा रही है या विदेश मे बिकने के लिये जा रही है।

□

लोक साहित्य और राजस्थानी लोक कला

लोक कला लोक जीवन की थाती है। लोक मानस की झलक यदि कहो देखने को मिल सकती है, तो वह लोक संस्कृति में ही देखी जा सकती है। लोक संस्कृति एक विस्तृत खुला हुआ आकाश है, जिसमे सामान्य जन की सही धड़कन टटोली जा सकती है। उसका सुख दुख विचार, भावना, उल्लास आदि का भण्डार लोक साहित्य और लोक कला में विद्यमान रहता है। सारा जन समुदाय लोक संस्कृति का सहकारी निर्माता है, इसलिये उसका भोग भी सारा समाज ही करता है। वह किसी की निजी सपति नही होती, उसका निर्माण पीढी दर पीढ़ी होता रहता है। वास्तव मे तो लोक संस्कृति एक अनवरत बहती हुई पवन जल धार है, जिसमे जनमानस अवगाहन कर अपने को जीवन्त बनाए रखता है। अंग्रेजी का फोक, शब्द भी इसी भाव का द्योतक हैं। हिन्दी मे फोक के लिए लोक और जन शब्द प्रचलित है हमारे यहाँ लोक शब्द का प्रयोग उन लोगों के लिये होता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथिया नही होती, वरन् सामान्य जन जीवन का खुला परिवेश ही उनकी पाठशाला होती है। ऐसी पाठशाला से सरल, निर्विकार संस्कृति की धार साहित्य संगीत, कला, नृत्य आदि में फूट फड़ती है और जन जीवन उसमें अपने मे ताजगी बनाये रहता है।

लोक साहित्य फोक लिटरेचर का अनुवाद होकर अंग्रेजी के अनुकरण पर हमारे यहां प्रयुक्त हुआ है। अनपढ ग्रामीण, आदिम जातियों का मौलिक रूप में प्राप्त साहित्य लोक साहित्य की कोटि में रखा जाता है। यह लोक वेद है जो किसी काल विशेष का न होकर युग युग से चला आ रहा साहित्य है जो हमे जन जीवन के बीच प्रायः मौलिक रूप में प्राप्त होता है। श्रुति परम्परा में पनपने वाले एवं विकसित होने वाला यह साहित्य 'बात एवं लोक गीतों के रुप में अधिक उपलब्ध होता रहा है। लोक वार्ता, लोक नाट्य एवं लोक गीतो के माध्यम से प्रस्फुटित लोक-साहित्य की जडें बहुत गहरी हैं। यही कारण है कि भारतीय विभिन्न भाषाओं में उसका स्वरूप अधिकतर एक सा ही मिलता है।

साहित्य के साथ ही साथ लोक संगीत और लोक कला का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नही है। अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये लोक मानस लोक गीतो को गाता रहा है। शास्त्रीय पद्धति से विलग उसका स्वर, लय और ताल मे निसर्ग रूप में संगीत की रस धार बहाता रहा है। लोक कला तो जैसे उसकी रग-रग मे बसी हुई

है। दृश्यात्मक माध्यम होने के कारण उससे बड़ी जल्दी परखा जा सकता है। वार त्यौहारो पर अपने घरो को सजाना, पशुओं की सज्जा करना, काम मे आने वाले उपकरणो वेश-भूषा को कलात्मक रूप देना लोक जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया जन जातियो, आदिम जातियो मे आज भी अधिक मुखर है। मंदिरों भवनो पर भित्ति चित्रण, पोथी चित्रण एवं लघु चित्रण मे भी लोक कला का मुखर स्वरूप विशेष दर्शनीय है। राजस्थानी लोक कला इस मे सर्वाधिक आगे है।

भारतीय चित्रकला की विभिन्न शैलियो मे राजस्थानी चित्रकला का महत्वपूर्ण स्थान है। खेद यही है कि आज तक विस्तार से इस चित्रकला के संविधान, वर्गीकरण एव विभिन्न पहलुओं पर शोध-पूर्ण कार्य नही हुआ। राजस्थानी चित्रकला का उद्‌भव एव उत्कर्ष राजस्थान के प्रान्त में हुआ तथा यह अन्य भारतीय शैलियो से प्रभावित होती हुई स्वतंत्र रूप से राजस्थान के वीर प्रदेश में पोषित एवं पल्लवित हुई। इसके विकास एव सवर्धन में राजस्थान का प्राचीन इतिहास और भौगोलिक रचना का प्रमुख हाथ रहा है। वीर राजपूतो की वीरभूमि के कण-कण में उनके शौर्य की गाथायें, लोक कथाए, सभ्यता और सस्कृति के पद-चिह्न काव्य, चित्रकला, स्थापत्य आदि के रूप में यत्र-तत्र बिखरी पडी है। वास्तविकता तो यह रही है कि अपने प्राकृतिक निर्माण और मोहक वातावरण के कारण काव्य एव कला की उद्‌भावना के लिए राजस्थानी धरती अत्यधिक उपयुक्त रही है।

विशुद्ध राजस्थानी शैली का प्रारम्भ १५ वी शती के उत्तरार्ध से १६ वी शती के पूर्वार्ध के बीच १५०० ई० के लगभग माना जाता है। तब से लेकर १६ वी शती के उत्तरार्ध तक राजस्थानी चित्रकला अनेक शैलियो मे परिप्लावित होती रही है। इसका विकास एव निर्माण दूसरी अधिकाश शैलियो की भाति न तो एक स्थान मे हुआ है और न ही कुछेक कलाकारो द्वारा। राजस्थान के जितने भी प्रमुख प्राचीन नगर' राजधानिया तथा धार्मिक और सास्कृतिक प्रतिष्ठान हैं, वहाँ चित्रकला पनपी और प्रतिष्ठित हुई है। धर्म-प्रिय रियासतो के कला-प्रेमी राजाओं, सामतों और जागीरदारों तथा सामान्य जन-जीवन का राजस्थानी चित्रकला के विकास एवं सवर्धन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

धार्मिक प्रतिष्ठानो के अतिरिक्त कवियो, चित्रकारों, संगीतज्ञो, शिल्पाचार्यों के दरबारी जमघट के कारण राजस्थानी चित्रकला की अजस्र धारा अनेक रियासती शैलियो को परिप्लावित करती हुई १७ वी १८ वी शती मे अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची, जिससे इसका समन्वित स्वरूप सामने आया। अधिकांश रियासतो के चित्रकारों ने जिन-जिन तौर तरीको से चित्र बनाये, स्थानानुसार अपनी मौलिकता, भौगोलिक तथा सामाजिक लोक कलात्मक विशेषताओ के कारण वहाँ की चित्रशैली कहलाई। राजस्थानी चित्रकला इस प्रकार अनेक शैलियो का समन्वित स्वरूप है जिसमें मेवाड़,

किशनगढ़, बूंदी, जयपुर, बीकानेर, मारवाड, कोटा, अलवर आदि शैलियां विशेष उल्लेखनीय हैं।

राजस्थानी चित्रकला के प्रमुखतया दो स्वरूप मिलते हैं—एक लोककलात्मक, और दूसरा दरबारी। प्रथम स्वरूप अधिकतर धर्म-पीठो एव जनसमाज मे अधिक पल्लवित हुआ है और दूसरा सामंती परिवेश मे। निश्चय ही उपर्युक्त दोनों स्वरूप अबाध गति से प्रवाहित होते रहे है। प्रारम्भिक राजस्थानी चित्रकला लोककलात्मक अधिक है। सही बात तो यह है कि लोक-जीवन तो राजस्थानी कलाओ के कण-कण में समाहित है। भित्ति-चित्रण की परम्परा मे विकसित राजस्थानी चित्रकला को लोक जीवन से विशेष सान्निध्य रहा है। भित्ति-चित्रण में लोक जीवन का पुट अधिक रहता है। लोक कथायें, धार्मिक भावनाएं, भगवान की चमत्कारी लीलायें तथा महा-पुरुषों की गाथाये राजस्थान मे भित्तियो पर प्राचीन समय से ही चित्रित की जाती रही हैं और यह परम्परा (अपने रूढ़ रूप में ही सही) आज भी प्रचलित है। राजस्थान के प्रमुख भित्ति-चित्रो में कृष्ण की विभिन्न चमत्कारी लीलायें व ढोला मारू की कथा, पाबूजी की कथा तथा अन्य लोक-जीवन सम्बन्धी कथाओं का समावेश विशेष रूप से मिलता है। कोटा के राजमहल, बूंदी के छत्रशाल महल, आम्बेर और जयपुर की अनेक छतरियां तथा शेखावटी की विभिन्न अट्टालिकाओ का चित्रण लोक जीवन एवं लोक-तत्वों के अधिक समीप है।

राजस्थानी चित्रकला का विकास ही प्रमुख रूप से अपभ्रंश शैली की दाय है, अतः अपनी पूर्ववर्ती शैली की रूक्षता, भदेसपन, रेखाओ की मुटाई आदि लोकतत्व प्रारम्भिक राजस्थानी शैली मे विशेष देखने को मिलते हैं। अत्यधिक नफासत पच्ची-कारी और मीनाकारी तथा रेखांकन की बारीकी सामन्ती प्रभाव के कारण ही राजस्थानी चित्रकला मे आयी है। प्रारम्भिक मेवाड़ शैली के चित्रो मे इस प्रकार का भदेसपन विशेषतया द्रष्टव्य है। "चोरपंचाशिका", 'दुर्गा सप्तशती' तथा 'गीत-गोविन्द' पर आधारित चित्र उपर्युक्त लोकतत्व के प्रमुख उदाहरण हैं। यह धारा १७ वी और १८ वीं शती मे भी सामंती चित्रण के साथ-साथ प्रवाहित होती रही है।

राजस्थानी चित्रकला मे लोकतत्व को सर्वाधिक कृष्ण चरित्र ने उभारा है। कृष्ण का चरित्र अपने आप में लोक-जीवन का साक्षात् प्रतीक है। स्वच्छन्द वातावरण में कृष्ण का गौवें चराना, जगल मे अनेक प्रकार के खेल रचना, पूतना से लेकर कंस तक का उद्धार करना तथा गोवर्धनधारण, काली दमन, दान-लीला, मान-लीला आदि का चित्रांकन विषय की दृष्टि से तो लोकजीवन से संबद्ध है ही, साथ ही चित्रांकन की शैलीगत विशेषताओ के कारण भी लोकतत्व के अधिक समीप है। ऐसे चित्र प्रमुखतया धर्म-पीठो मे तो बने ही है साथ ही विभिन्न दरबारो की धार्मिक भावना के कारण भी विपुल रूप से अंकित किये गये हैं। हां १८ वी शती के चित्रों की लोककलात्मकता मे सामंती परिवेश का प्रभाव अवश्य आ गया है। मेवाड़ शैली, बून्दी शैली, मारवाड़ शैली

के ऐसे चित्र विभिन्न संग्रहालयों मे विशेष द्रष्टव्य हैं, जिनमें विषय और शैली की दृष्टि मे लोककलात्मकता है।

चित्रकला के माध्यम से कृष्ण चरित्र को सर्वाधिक प्रसार दिया है मेवाड़ की उपशैली नाथद्वारा-शैली ने। नाथद्वारा में श्रीनाथजी के स्वरूप के स्थापित होने के साथ ही गुसाईयों के साथ अनेक चित्रकार भी ब्रज-क्षेत्र से अपनी जीविका उपार्जन हेतु आ बसे और श्रीनाथजी के स्वरूप एवं अन्य लीलाओं का चित्रांकन करने लगे। स्थानीय जांगिड ब्राह्मण भी श्रीनाथजी के चित्रांकन मे जुट गये और इस प्रकार ब्रज के प्रभाव तथा मेवाड़ शैली के योग से १८ वी शती के अन्त में नाथद्वारा शैली जोर-शोर से अपना विस्तार पाने लगी। ये चित्रकार अधिकतर कपड़े पर चित्रांकन करते थे जो श्रीनाथजी की पिछवाइयों के रूप में प्रचलित हुआ। इन पिछवाइयों का अंकन ठेठ लोक-कलात्मक शैली मे हुआ है। माता यशोदा के चित्रण की प्रमुखता के कारण स्त्रियों की आकृति मे प्रौढ़ता, शारीरिक स्थूलता और भावों मे वात्सल्य की झलक विशेष दर्शनीय है। पुरुषों मे गुसाईयों के पुष्ट कलेवर बाल-गोपालों की ग्रामीण आकृतियाँ तथा गाय, बछड़े, वन, निकुंज आदि का अंकन सरस एवं सौम्य बन पड़ा है। इन चित्रो में लोक-जीवन की पूर्ण छाप है, इसलिये ये चित्र लोककला के सच्चे प्रतीक हैं।

राजस्थानी चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता है काव्यांकन। काव्य को आधार बनाकर चित्र अंकित करने की यहां परम्परा रही है। लोककथाओं पर आधारित चित्र तो लोककला के द्योतक हैं ही पर उच्चकोटि के साहित्य पर आधारित चित्र भी लोकतत्वों से प्रभावित हैं। प्रारम्भिक चित्र अपनी शैली-गत विशेषताओं के कारण लोक-कला से संबद्ध हैं। भक्तिकालीन साहित्य जैसे सूरसागर, परमानन्दसागर तथा अन्य फुटकर भक्ति पदों पर आधारित चित्रों मे भी भक्तिकालीन लोकजीवन का यथेष्ट पुट द्रष्टव्य है। दूसरी ओर रीतिकालीन अर्थात् रसिक प्रिया, बिहारी सतसई, रसराज आदि काव्यों को आधार बना कर जो चित्र मेवाड़, बूंदी जयपुर, बीकानेर आदि शैलियों में निर्मित हुये हैं, उनमें रीतिकालीन मीनाकारी पच्चीकारी और बारीक अलंकरण का विशेष प्रभाव है। ऐसे चित्रों मे सामंती परिवेश की पूर्ण छाप देखने को मिलती है।

राजस्थानी चित्रकला में जो चित्र लोक-कलात्मक शैली में अंकित किये गये है उनमे रंगो का प्रयोग भी लोककलानुकूल ही है। मिट्टी और पत्थर से बनाये गये ऐसे रंगों का प्रभाव सहज मौलिक है। ऐसे चित्रो मे रंगो का तालमेल अधिक नहीं हुआ है और वे अपनी सूचक अवस्था मे ही प्रयुक्त किये गये हैं। सूचक अवस्था का संबन्ध प्राचीनतम रंगो से है। ऐसे लोककलात्मक रंग प्रायः ऐतिहासिक काल की गुहाओं से निकलकर अजन्ता शैली, जैन-शैली, गुजरात शैली और फिर राजस्थानी

शैली में विशेषतया प्रयुक्त हुये है। आगे चलकर रगो की यह सूचक अवस्था टूटने लगी और रंगो का सम्बन्ध 'टोन' से आबद्ध होकर 'हारमनी' की ओर अग्रसर हुआ। इस प्रकार राजस्थानी शैली के लोककलात्मक रग सामती परिवेश की चमक-दमक मे अपनी सहज सूचक अवस्था खोकर एक दूसरे मे घुल मिल गये। राजस्थानी चित्रकला के लोककलात्मक चित्रों में रग योजना भी अत्यधिक सहज है। लाल, पीले, नीले, हरे, काले रंगों का चुनाव उनका सहज प्रयोग भित्ति–चित्रण की परम्परा का परिचायक है।

संक्षेप में राजस्थानी चित्रकला के अधिकाश चित्र विषय शैली एवं रंगयोजना की दृष्टि से लोककलाओं से अत्यधिक प्रभावित हैं। भारतवर्ष के ही नही संसार भर के अनेक सग्रहालय पोथीचित्रों, लघु-चित्रों, पिछवाइयो तथा लिपटवाँ पेडो के रूप मे इन चित्रों से सुशोभित हैं। खेद यही है कि अपनी अमूल्य धरोहर तथा सास्कृतिक परम्परा के प्रति हम और हमारी सरकार तनिक भी जागरूक नही है। राजस्थान की इस अमूल्य धरोहर को जो लोक साहित्य, लोक संगीत और लोक कला के रूप मे उपलब्ध होती है उसे आज बनाये रखने के लिए जनता एवं सरकार को मिलकर प्रयत्न करने की आवश्यकता है अन्यथा मशीन युग में आधुनिकीकरण के फल स्वरूप यह लोक प्रवृत्ति समाप्त प्राय: हो सकती है।

□

राग रागिनी और उनका चित्रण

भारतीय संगीत का आधार राग है। शारंग देव ने अपने संगीत रत्नाकर ग्रंथ मे ध्वनि की उस विशिष्ट रचना को, जिसे स्वर तथा वर्ण द्वारा सौन्दर्य प्राप्त हुआ हो और जो श्रोताओं के चित्त को प्रसन्न कर सके, राग माना है। भारतीय धारणा के अनुसार राग शंकर भगवान की देन है। शिव और शक्ति के योग से राग की उत्पत्ति हुई। पचानन महादेव के पाँच मुखों से पाँच राग यथा श्रीराग, बंसत, भैरव, पंचम, मेघराग, तथा पार्वती के मुख से नट नारायण राग उत्पन्न हुए। पर इस तरह की धारणा को भारतीय मिथक की रचना की ही उपज कहा जा सकता है।

वैदिक संस्कृति मे सामवेद की ऋचायें गायी जाती थी, पर उनमें कहीं भी राग का संकेत नहीं मिलता। भारतीय संगीत का सर्व प्रथम उपलब्ध ग्रंथ भरत का नाट्य शास्त्र है, जिसमें विस्तार मे श्रुति, षडज, ग्राम, मध्यग्राम तथा अट्ठारह जातियों का वर्णन है, पर राग-रागनियों का उल्लेख नहीं है। १२ शती से पूर्व राग-रागनियों की चर्चा नहीं मिलती। इससे पूर्व संगीत का जो रूप स्वरूप रहा है, वह संगीत के विद्वानों के लिए विचारणीय है।

१३ वी शती मे शारंग देव ने संगीत रत्नाकर की रचना की, जिसमे रागों की विस्तृत चर्चा की, पर इससे पता चलता है कि शारंग देव ने जिस प्रकार प्रस्तुतीकरण किया है, उसकी पूर्व परम्परा अवश्य रही है। १४ वीं शती मे संगीत के क्षेत्र मे महान क्रान्ति हुई जिससे राग-रागनियों के वर्गीकरण की परम्परा ही चल पड़ी।

राग रागिनी स्वरूप

राग रागनियों के स्वरूप के बारे मे विद्वानों के विभिन्न मत हैं। जिस प्रकार ८४ योग और ८४ भोगों का समावेश हमारे यहाँ मान्य है, उसी प्रकार ८४ राग रागनियों की कल्पना भी की गयी है। १५ वी शती से तो उत्तरी भारत में राग रागनी के स्वरूप तथा वर्गीकरण की प्रणाली पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। समय की गति के साथ-साथ ही राग परिवार मे वृद्धि होती रही है और प्रत्येक राग के साथ उसकी भार्याओं, पुत्रों तथा पुत्र वधुओं का भी उल्लेख होने लगा। अनेक ग्रंथ संगीत शास्त्र पर लिखे गये, जिनमें से शारंग देव का 'संगीत रत्नाकर', महाराणा कुम्भा का संगीत दर्पण और सोमनाथ का राग विवोध विशेष उल्लेखनीय है। किन्तु राग

रागनियों की पद्धति को मानने वाले संगीताचार्यों में भी मतैक्य नही है। अधिकतर संगीत संबंधी ग्रंथों और कृष्ण-भक्ति काव्यों मे ६ राग और ३६ (छतीस) रागनियो का विशेष उल्लेख मिलता है। इसीलिये महाकवि सूरदास ने स्पष्ट कहा है कि "छहों राग छतीसों रागिनी, इक-इक नीके गावैरी" और इसीलिये छतीस राग रागनियो की चर्चा हिन्दी साहित्य मे, संगीत मे और चित्रकला में विशेष होती रही है।

राग रागनियों का चित्रण

अमूर्त का मूर्तिकरण करने की प्रवृति भारतीय संस्कृति की विशेष देन रही है। देवी देवताओं के माइथोलॉजिकल मूर्त स्वरूप के समान ही राग रागनियों की मूर्तता की कल्पना भी भारतीय कला मे आश्चर्यजनक है। इस अमूर्तता का कलात्मक मूर्तीकरण एवं चित्रण क्रमशः मूर्तिकला एव चित्रकला में विशेष रूप से देखा जा सकता है। राणा कुम्भा की संगीत कल्पना चितौड़ के विजय स्तम्भ मे तथा रागिनियों का चित्रण भारत की विभिन्न चित्र शैलियो मे सहज ही देखा जा सकता है।

राग-रागिनी के चित्रण में अनेक अभिप्रायों का सहयोग रहा है। प्रथम तो संगीत शास्त्रियों ने ही अपने ग्रंथों में राग का ध्यान और स्वरूप निश्चित कर दिया है। दूसरे राग किसी न किसी देवता या महा पुरुष से संबधित रहा है, इसलिये उस देवता या महापुरुष के गुणो, उसके दैवी कर्त्तव्यों का समावेश उस राग में हुआ है। उदाहरण के लिये भैरवो रागिनी मे महादेव की पूजा, नटनारायणी मे विष्णु का नर्तन, कान्हड़ा मे हाथी को वश मे करते हुये कृष्ण का चित्रण, मारू मे ढोला मरवण की कथा आदि का चित्रण विशेष उल्लेखनीय है। नायक नायिकाओ तथा राधा कृष्ण से संबधित काव्य की चित्रोपयोगिता तथा अष्टनायिकाओ के विविध रूपो ने भी रागिनों के स्वरूप निर्धारण में महत्व पूर्ण योग दिया है। देश काल के अनुरूप अभिप्राय भी रागिनी के स्वरूप निर्धारण में सहयोगी रहे हैं। उदाहरण के लिये सिंधवी रागिनी सिंध के ससार प्रसिद्ध घोड़ों का प्रतीक और सोरठी सौराष्ट्र का राग होने के कारण बीजा सोरठ के प्रेमाख्यान का प्रतीक है।

प्रकृति का संबंध मानव के दु.ख-सुख, राग-विराग से रहा है अतः उसकी सांस्कृतिक चेतना मे प्रकृति का योगदान अक्षुण्ण है। बहुत सी राग रागिनियों का संबंध एवं नाम करण प्रकृति के उपकरणो के आधार पर ही हुआ है। अतः उन रागों में उस ऋतु की आत्मा और प्राकृतिक परिवेश की सौंधी गंध बसी हुई है। हिण्डोल का संबध श्रावण मास के हरे-भरे वातावरण में राधा-कृष्ण का झूला झूलने का प्रतिकार्थ है। अष्टछापीय एवं अन्य भक्त कवियों के 'झूलना' संबधी पद इस राग पर आधारित है।

राग मेघ, मलार, मेघ मलार आदि राग रागनियो का स्वरूप बरसांत के उद्दाम वातावरण से संबंधित है, इसलिये ऐसे वातावरण मे कृष्ण गोपियों के साथ मयूर की भाँति नाच उठते हैं। काले-काले बादलों का घुमड़घुमड़ कर बरसना, व्रज के सतरंगे

प्रकृति परिवेश मे कृष्ण के वंशीवादन, नर्तन आदि का चित्रण जिस काव्य में हुआ है, प्रायः वही मेघमलार या मलार मे गाया जाता रहा है। मेघमलार का चित्रण भी सर्वत्र ही कृष्ण की गोपियो के साथ श्रावण-भादो के बरसाती वातावरण में नृत्य करते हुये उपलब्ध होता है। कृष्ण भक्त कवियों और विशेषतया सूरदास जी ने सम्पूर्ण पावस प्रसग मे मेघमलार एव उससे संबधित रागनियों, जैसे मियां की मलार, गौड मलार आदि का प्रयोग किया है। बसत राग का सबध भी इसी प्रकार ऋतुराज बसत और शृ गार के प्रतीक श्री कृष्ण की रसिक कृतियों से जोड़ा गया है।

इसी प्रकार कवियो, सगीतकारो, चित्रकारो और मूर्तिकारों की मिली जुली कल्पना ने राग-रागनियो के न जाने कितने रूप स्वरूप और नामकरण किये हैं, उनमे से बहुत सी रागनियों के नाम ही अनजाने हो गये है। इसका एक उदाहरण रागिनी गुमारू का है। दकन शैली का एक उत्कृष्ट चित्र रागिनी गुमारू का कुं० सग्राम सिंह के यहाँ उपलब्ध है, किन्तु सगीत के क्षेत्र मे यह रागिनी प्रायः गुम हो गयी है।

कुछेक रागनियों के अभिप्राय भारतीय पशु-पक्षियों मे सबधित हैं। जैसे कुकुभ रागिनी का सबध नाचते हुये और कूकते हुए मोरों से है तथा टोडी रागिनी सगीत लहरो मे मदमस्त हरिणो से सबधित है। कान्हडा हाथी के मदहरण, सेंधवी सिंधी घोडो और मारू, ढोला मारू के ऊँट पर सवार होने के अभिप्राय से सबध रखती है।

रस तो भारतीय कलाओ का आधार रहा है। नव रस के आधार पर राग-रागनियो का निर्धारण निश्चित है। रस के निर्धारण के विपरीत जहाँ राग गाया जाता है वह सगीत के रस की दृष्टि से विरोधाभास है। डागर बन्धु राग दरबारी मे जब ध्रुव पद गाते है तो राग की गम्भीरता और गुरुता का ध्यान भी उन्हे रहता है और प० भीमसेन जोशी राग ललित मे राग के लालित्य की ओर विशेष ध्यान रखते है।

सगीतकारों ने राग-रागनियो के गायन का समय निश्चित कर रखा है जो सैकडो वर्षो के ज्ञान का प्रतिफल है। रागो की समय सारणी को यों ही आज मजाक मे नही उडाया जा सकता। मारू विहाग का रात्रि के प्रथम प्रहर मे और राग भैरव का प्रात काल ही अधिक आनन्द लिया जा सकता है। आज के भागमभाग के जीवन मे राग-रागनियो के समय निर्धारण का वैज्ञानिक अध्ययन होने की आवश्यता है।

राग-रागिनी चित्रण इतिहास और उपलब्धि

संसार का कोई ऐसा प्रमुख कला सग्रहालय नही जिसमे राग-रागनियों पर आधारित भारतीय चित्रकला की अमर धरोहर उपलब्ध न हो। १५ वी शती से लेकर १६ वी शती तक भारतीय चित्रकला में राग-रागिनी चित्रण एक प्रमुखतम विषय रहा है, अत. समय-समय पर हजारो चित्रो का निर्माण हुआ है। ३६ राग-रागिनी

का सैट बनाने की रूढ़ि ही चल पड़ी थी, इसलिये मुगल, राजस्थानी, पहाड़ी आदि चित्रशैलियों में राग-रागनियों का चित्रण बहुलता से हुआ।

राग-रागिनी के सबसे पुराने चित्रों में राजस्थानी शैली मे महाराणा प्रताप की राजधानी चाँवड में नसीरुद्दीन द्वारा सन् १६०५ मे चित्रित राग माला चित्र जो गोपी कृष्ण कानोड़िया कलकत्ता के निजी संग्रह मे तथा बूंदी शैली का राग दीपक और रागिनी भैरवी के चित्र क्रमशः भारतकला भवन, बनारस और नगरपालिका सग्रहालय, इलाहाबाद में द्रष्टव्य है। मेवाड़ शैली के २१७ चित्र सरस्वती भण्डार, उदयपुर और १८ वी शती अंत के ३६ चित्र विक्टोरियाहाल म्यूजियम, उदयपुर मे विशेष उल्लेखनीय हैं। मुगल शैली के अलवर शैली के अनेक चित्र अलवर सग्रहालय मे देखने योग्य हैं। सिटी पैलेस म्यूजियम में राग-रागिनी सैट के ४५ चित्र उच्च कोटि के बताये जाते हैं। भारत इतिहास संशोधक मण्डल पूना मे विभिन्न शैलियों के ८० चित्र कला के अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी हैं। राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली, पिक्चर एण्ड आर्ट गैलेरी बड़ौदा, एन० सी० मेहता आर्ट गैलेरी, अहमदाबाद आदि तथा विदेशी संग्रहालय भारतीय चित्रकला की अमर धरोहर रागमाला के चित्रों से सुसज्जित हैं। निजी सग्राहकों के पास भी राग-रागिनी के उत्कृष्ट चित्र उपलब्ध हैं। कुं० संग्रामसिंह के पास अम्बर शैली के पंचमराग, दीपक राग, मारू राग के उत्कृष्ट चित्र उपलब्ध हैं जो कला के अध्ययन के नये आयाम प्रदान करते हैं।

संसार भर मे फैले हुये राग माला के ये चित्र लघु चित्रों के रूप मे उपलब्ध हैं, पर आश्चर्य ही है कि सर्वाधिक प्रसिद्ध किशनगढ़ शैली मे राग माला का एक भी चित्र उपलब्ध नहीं है। काश एक चित्र हो तो आज उसकी कीमत लाख रु० से कम नहीं हो।

□

काव्य और चित्रकला तथा आधुनिक बोध

कला शिवत्व की उपलब्धि के लिए सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है। काव्य और चित्रकला इस अखण्ड अभिव्यक्ति को अभिव्यंजित करने के महत्त्वपूर्ण और सशक्त माध्यम है। कला की रचना प्रक्रिया और अभिव्यंजना मे काव्य और चित्रकला का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध विशेष योगदान देता है। ललित कलाओं में काव्य और चित्रकला का माध्यम क्रमशः शब्द तथा रग रेखाएँ हैं, जो अपनी कोमलता के कारण दोनों कलाओं मे गहन सम्बन्ध स्थापित करते है।

कवि का अस्त्र होता है शब्द। वह शब्दों के माध्यम मे हृदय की अनन्त गहराई को छूने मे समर्थ होता है। शब्द की अर्थवत्ता जितनी ही विस्तृत और गहन होगी काव्य भी उतना ही उत्कृष्ट होगा। शब्दों का उचित एवं सही प्रयोग काव्य को सशक्त बनाता है, अत. उत्कृष्ट कोटि के कवि सदा नपुंसक और घिसी पिसाई शब्दावली को त्याग कर शब्दो को नयी अर्थवत्ता देने का प्रयत्न करते हैं। काव्य की अभिव्यक्ति में दो तत्व विशेष काम करते है—एक नाद तत्व और दूसरा चित्र तत्व। किसी कृति में दोनो का सामन्जस्य रहता है और किसी मे एक का प्राधान्य। प्राचीन हिन्दी कविता मे दोनो का सायंजस्य है और आधुनिक नयी कविता में अनुभूतिजन्य चित्र तत्वों का प्राधान्य। यह चित्र तत्व काव्य का प्राण होता है, इस दृष्टि से प्रत्येक कविता अपने आप मे भाव विचारो की प्रतिमूर्ति हैं। शब्दो मे चित्र निर्माण की शक्ति होती है। जब कोई शब्द उच्चरित होता है तब श्रोता के मन मे उच्चरित ध्वनि के प्रति क्रिया स्वरूप मानस चित्र उभर आते हैं। 'कविता के पठन या श्रवण से निर्जीव शब्द रग रेखादि में संमूर्तता धारण कर परियों की भाति भिन भिनाने और भौरो की भाँति गुंजारने लगते हैं। यह गुंजार जितना ही सजीव, सतरगा और चित्रयोजनात्मक होगा काव्य का आनन्द भी हम उतना ही प्राप्त करने मे समर्थ होंगे। कवि निराकार अनुभूतियो को साकारता प्रदान करने के लिए चित्र भाषा का प्रयोग करता है। भूतकाल के चाक्षुप, श्रवणात्मक संस्पर्शात्मक तथा अन्याय प्रभावों के संयोग से जिन स्मृत्यात्मक अनुभूतियो का कवि पुनर्स्थापन करता है वह कविता की उत्कृष्टदाय होती है।

कवि और चित्रकार के मन में मानस चित्र एक ही स्थिति मे उभरते है, किन्तु अभिव्यक्ति के माध्यम की विलगता के कारण दोनो का मार्ग अलग हो जाता है। कवि

ाद्दों की बरात लिए आगे बढ़ता है। उस जुलूस में प्रतीक के सामन्त, उपमान और शब्दों के उच्चाधिकारी मुहावरे और लोकोक्तियों के राज परिवारी तथा अन्याय कितने ही लोग सज्जासाजे धूम-धाम से आगे बढ़ते है। ऐसे समय में कवि के सम्मुख कल्पना और अनुभूति का विस्तृत रंग मंच अपनी कला को साधने के लिए रहता है। प्रस्तुत का अप्रस्तुतीकरण तथा अप्रस्तुत का प्रस्तुतीकरण कर वह अनेक चित्र और बिम्ब खड़े करता है, जिन्हे पाठक अपने विस्तृत शब्द ज्ञान, अनुभूति, कल्पना, जन-जीवन दर्शन आदि से सम्बन्धित कर काव्य को समझने का प्रयत्न करता है। इतना सब कुछ होने पर भी काव्य का मूर्त ठोस रूप हमारे सम्मुख नही होता, केवल चल चित्र की भांति निराकार पर्दे पर वे अमूर्त चित्र, बिम्ब, प्रतीक आदि बुलबलों की भांति हमारे मानस मे फूटते रहते हैं और हम रसान्वित होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में काव्य बोध अपने आप में अत्यधिक विस्तृत और गम्भीर है और अल्प ज्ञानी के परिप्रेक्ष्य मे सीमित। दोष 'कामायनी' और नयी कविता का नही अरसिक और अल्पज्ञानी पाठक का है।

दूसरी ओर चित्रकार अपने मानस चित्रों को अपनी सीमा रेखाओ मे रंग और रेखाओं के माध्यम से किसी आधार भूत सतह पर अभिव्यक्त करता है। चित्रकला मे मानसिचत्र चाक्षुष चित्रो मे ढल कर हमारे सामने आते है। चित्रकार की विशेषता यह है कि वह भित्ति, कागज, कपड़ा आदि के समतल धरातल पर ऊँचाईया गहराईया दूरी और नैकट्य दर्शन के साथ ही अपने हृदय की अनुभूतियो मे रग और रेखाओं के माध्यम द्वारा खेलता है। ऐसा करने से चित्र मे मूर्तता के साथ ही मानसिकता का सुन्दर समन्वय हो जाता है। जो मानस चित्र काव्य में निराकार के पर्दे पर अनवरत झूलते हैं, वे ही चित्रण के माध्यम से किसी सीमा तक ठोस आधार पर सिहासनारूढ हो जाते हैं। भित्ति, लकड़ी, कपड़ा, कागज आदि का कैनवास उसका रणक्षेत्र है और रेखा-रंग आदि उसके अस्त्र-शस्त्र। वह जितनी चतुराई और तल्लीनता से कैनवास पर जूझता है, उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही सच्ची और गहनतम होती है। यह बात दूसरी है कि युद्ध के परिप्रेक्ष्य की भाति प्राचीन चित्रण शैली और आधुनिक शैली में भाव और तकनीक की दृष्टि से रात-दिन का अन्तर आ गया है, पर मूल प्रेरणा एक है।

संक्षेप में काव्य और चित्रकला मे अभिव्यक्ति के माध्यम का ही अन्तर है शेष कला की मूल आत्मा एक है। "कविता बोलता हुआ चित्र है और चित्र मूक काव्य।" कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता होती है जिसके एक एक शब्द की झंकार मे चित्र हिलोरें लेता रहता है। प्रत्येक कविता अपने आप मे एक चित्र है। उपर्युक्त काव्य के विधायक तत्व स्वयं भावमय चित्र है, इसलिये ड्रायडन ने चित्रयोजना को कविता का प्राण माना है। सच तो यह कि कविता वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत

तीय चित्रकला की परम्परागत प्रतीकों प्रतिरंजितलय, अलंकारिता, भावुकता तथा तमाम रीतियों से मुक्त कर शेरगिल और हुसैन ने समकालीन संसार को निरावृत कर, उसके ठोस, ठस और उन्मुक्त सौन्दर्य को पहली बार उद्घाटित किया और मांसल, प्राणवान और वर्जनामुक्त चित्रकला की अमित सम्भावनाओं का द्वार खोल दिया। यही कार्य प्रारम्भ मे हिन्दी साहित्य मे असाधारण रूप से निराला जी ने किया जिसे विस्तार अज्ञेयजी ने दिया। दुर्भाग्य यही रहा कि अमृता शेरगिल अल्पवय मे ही अपनी सभवानाओ को संकेत कर सन् ४३ मे मिट गयी और निराला जी इतने गलत समय मे साहित्य क्षेत्र मे आये कि उन्हे संघर्ष करते ही खपना पड़ा। उनकी असाधारण क्रान्तिकारी दाय के उपरान्त भी उन्हे हमने नकार दिया और पगड़ी अज्ञेय जी के सर पर बांध दी। यह बात निश्चित है कि अज्ञेय जी ने सपूत उत्तराधिकारी की भांति अपनी स्थिति को निभाया है। आज आधुनिक बोध की बात नयी कविता मे अज्ञेय जी से प्रारम्भ की जाती है और चित्रकला मे हुसैन से। पाश्चात्य प्रभाव के बावजूद भी अज्ञेय जी की अधिकतर कविता भारतीय बोध की ठोस जमीन पर और हुसैन के नवीनतम रग रेखाओ के प्रयोग भी ठेठ भारतीय जमीन पर अवस्थित है।

आज की बदलती हुई चेतना का अहसास नया कवि कई स्तरो पर कर रहा है। कुछ कवि ऐसे है जिनका एक पैर परम्परा से और दूसरा नवीन बोध से जुड़ा हुआ है जो नितान्त आधुनिकतम है। कुछ ऐसे है जो आचालिक बोध को उभार कर सामने ला रहे है और कुछ नगर बोध की गहनतम विवृत पीडाओं का भार ढो रहे हैं। यही स्थिति आधुनिक चित्रकला मे आधुनिक सवेदना को अकित करने की है। पीडा एक है। घुटन और सीमा रेखाएँ एक सी है। अभिव्यक्ति की आन्तरिक लय भी एक है, पर माध्यमो ने उन्हे बाल रूप से अलग खडा कर दिया है। यह बाह्य स्थिति भले ही कितनी भी भिन्न क्यो न हो किन्तु अनुभूति की एकता, कथ्य की एक रूपता मे सभी कलाकार आज जुड़े से लगते हैं। उन्हे अधिक समीप जुटा कर देखने से ही यह बात समझ मे आ सकती है। काव्य में आधुनिक बोध, रग बोध, विघटित और खण्डित व्यक्तित्व की खोज आदि अधिक ईमानदारी और गहराई से खोजी जा सकती है। यदि चित्रकला या अन्य कलाओ में भी उस भाव बोध की एक रूपता को मिलाकर विचार किया जाय।

अस्तु काव्य और चित्रकला अलग-अलग विधाएं है उनके माध्यम अलग है। व्यक्ति की दृष्टि से कवि और चित्रकार भी अलग है पर एक अन्तमूर्त धारा है जो उन्हें जोडती है और आधुनिक बोध को गहराई से समझाने में सहायता देती है।

□

सांस्कृतिक समन्वय के साधक : चित्रकार

इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि किसी भी देश के सांस्कृतिक समन्वय में वहाँ के कलाकारों का योगदान सर्वोपरि रहा है। वास्तव मे तो जिन कलाकारों ने छोटी-मोटी धार्मिक स्पर्धाओं और स्वार्थपरताओ से ऊपर उठकर अपनी कला का परिचय दिया है वह कला सर्वदेशीय एव सर्वयुगीन हो गयी है। जाति-पाति, देशकाल, धर्म-कर्म आदि की देहरी को लाघकर वसुधैव कुटुम्बकम् की भाव धारा का अजस्र श्रोत बहाने वाले कलाकार आज भी इतिहास मे अमर हैं।

कला के इतिहास से ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध वास्तुकारों, साहित्यकारो, मूर्तिकारों संगीतज्ञों एवं चित्रकारों ने समय-समय पर अपनी कला के माध्यम से जो समन्वयात्मक दाय प्रस्तुत की है उससे समाज में सुख-शान्ति एवं भाईचारा अधिक फैला है। इस सांस्कृतिक समन्वय मे किसी भी देश के चित्रकारों का योगदान सर्वोपरि रहा है, जिसका प्रमुख कारण उनके द्वारा अपनाये गये माध्यम की सार्वभौमिकता है। चित्रकला की भाषा अन्य कलाओ की भाषा से अधिक प्रभावशाली सार्वदेशिक एवं सार्वकालीन है। हजारों वर्षो से चली आ रही यह भाषा आज भी उसी लिपि में लिखी जा रही है, जैसी कि यह हजारों वर्ष पूर्व लिखी जाती थी। हजारो वर्ष पूर्व के चित्रों को समझने मे आज हमे कोई कठिनाई नही हो सकती, जबकि सिंधु सभ्यता की लिपि ही हमारे लिए आज भी पहेली बनी हुई है। सब कालों में जिस कला की भाषा एक हो तथा संसार के प्रत्येक कोने-कोने मे जिस भाषा को समझने में कोई कठिनाई न हो उसके समन्वयात्मक गुण का क्या कहना ? देश-विदेश की तथा प्रान्त-प्रान्त की भाषाएं तथा लिपियां आज हमारे लिए सरदर्द बनी हुई है। भारत जैसे समन्वयकारी देश में प्रान्तो की विभिन्न भाषाएँ एक राष्ट्र की सार्वभौमिकता मे बाधा बनी हुई हैं। चित्रकला की भाषा के सामने ऐसी कोई कठिनाई नही, इसलिए सांस्कृतिक समन्वय एवं पारस्परिक मेल-मिलाप मे इसका योगदान सर्वोपरि कहा जावे तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

सांस्कृतिक समन्वय के साधक ये चित्रकार भारतीय इतिहास मे समय-समय पर जो अपना सहयोग देते रहे हैं वह अविस्मरणीय है। बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि धर्मों के कलाकारों ने चित्रकला के माध्यम से अपने धर्म की धरोहर को ही उजागर नही किया, वरन् एक दूसरे की सस्कृति में समन्वय कर भाईचारे का वातावरण भी पैदा करते रहे हैं। भारतीय चित्रकला के इतिहास में यह क्रम

चित्रण मध्यकाल से ही अधिक उभर कर सामने आया है। १५ वीं शताब्दी में गुजरात से लेकर काश्मीर तक की चित्रशैली एक कड़ी में बंधने का प्रयत्न कर रही थी। गुजरात के सुल्तान महमूद बेगडा तथा मेवाड़ के महाराणा कुम्भा और काश्मीर के शासक जेनुल आबुदीन ने अपने समय में चित्रकला की विशेष उन्नति की। अतः चित्रकला के क्षेत्रों में उस समय जो आदान-प्रदान हुआ, उसने अपने समन्वयात्मक प्रतिरूप के कारण तत्कालीन चित्रशैलियों एवं चित्रकारों में नवीन भाव बोध भर दिया।

मुगल शैली अपने आप मे दो संस्कृतियों के समन्वय की धरोहर है। भारत में मुगल शासन स्थापित हो जाने के बाद भारतीय चित्रकला की शैली में परिवर्तन हुए। हुमायूं के साथ फारस के दो कलाकार सैयद अली और अबदुस्समद भारत आये। वे ईरानी शैली के कलाकार थे। 'अमीर हम्जा' के चित्रण में उन्होने ईरानी शैली की गहरी छाप छोड़ी, पर वे भारतीय वातावरण से प्रभावित हुए बिना न रह सके। अकबर महान का नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है कि उसने राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक समन्वय मे भारी योगदान दिया। सन् १५६२ में अजमेर यात्रा के समय जयपुर घराने से वैवाहिक संबध स्थापित कर उसने सांस्कृतिक समन्वय की नींव रखी, जिसके फलस्वरूप उसके दरबार में हिन्दू और मुस्लिम कलाकारों का जमघट लगने लगा। मुसलमान कलाकार जो ईरानी शैली मे चित्रकारी करते थे वे हिन्दू कलाकारों एवं भारतीय परिवेश के सम्पर्क मे आये और इस प्रकार के कलात्मक आदान-प्रदान से जिस नवीन शैली ने जन्म लिया वह मुगल शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। अकबर हिन्दू और मुसलमानो में मेल मिलाप चाहता था। हिन्दू पत्नियों के साहचर्य से उसकी रूचि में काफी परिस्कार हुआ। उसकी रूचि को जानकर उसके समय के शुद्ध ईरानी शैली के चित्रकार भी तत्कालीन भारतीय शैलियों की ओर झुके। अबदुस्समद, मीर सैयद अली, दसवन्त, बसावन, मुकुंद, माधो, गोविन्द, सावलदास आदि सैकड़ों मुस्लिम और हिन्दू कलाकारों ने मिलकर अकबर की चित्रशाला अर्थात् कारखाने को सजीवता प्रदान की। 'हम्जा नामा' 'शाहनामा' कुरान, आइने अकबरी जैसे ग्रंथों के साथ ही रामायण, महाभारत, पंचतंत्र, नलदमन, जैसे भारतीय ग्रंथों का भी दृष्टान्त चित्रण करवाकर अकबर ने सांस्कृतिक समन्वय का परिचय दिया।

चित्रकला के इस समन्वयात्मक स्वरूप के कारण भारतीय अन्य चित्र शैलियां भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। यह प्रभाव राजस्थानी शैली के चित्रकारों में विशेष रूप से परिलक्षित होता है। राजस्थान की विभिन्न रियासतों के राजाओं का मुगल दरबार से संबंध होने के कारण राजस्थान की मरुभूमि मे चित्रण की दृष्टि से नवीन मोड़ आया। कलाकारों का आदान-प्रदान होने लगा। छोटी-बड़ी रिसायतों में हिन्दू और मुसलमान कलाकार साथ-साथ कार्य करने लगे तथा एक दूसरे की सांस्कृतिक धरोहर को बढ़ावा देने मे होड़ करने लगे। महाराणा प्रताप की राजधानी चांवड़ में

मुसव्विर नसीरदी द्वारा सन् १६०५ में चित्रित भारतीय रागमाला के चित्र ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नही है, वरन् इस बात के भी साक्षी हैं कि हिन्दुत्व के रक्षक महाराणाओं के राज्य में मुस्लिम कलाकारों ने भारतीय अभिप्रायों का चित्रण कर सांस्कृतिक समन्वय का परिचय दिया। मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह के दरबार में हिन्दू और मुसलमान चित्रकारो का एक सा स्थान था। आश्चर्य की बात यह है कि सन् १६४८ में शाहबदी द्वारा चित्रित 'भागवत पुराण' कला की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नही है वरन् मुगल शैली द्वारा प्रभावित मेवाड़ शैली का उत्कृष्ट उदाहरण भी है। यह सांस्कृतिक समन्वय इन चित्रों में शारीरिक बनावट वेशभूषा, अलंकार, पृष्ठभूमि आदि के माध्यम से देखा जा सकता है।

मेवाड़ मे ही क्या राजस्थान की अन्य शैलियो मे भी यह समन्वय बहुलता से देखा जा सकता है? पारस्परिक घनिष्ट संबंधो के कारण जयपुर शैली पर तो मुगल शैली का इतना प्रभाव है कि वे प्रायः एकाकार हो गयी है। बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह ने सत्रहवी शताब्दी में चित्रकला के इन साधकों को जो प्रश्रय दिया वह कला के इतिहास एवं सांस्कृतिक समन्वय में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ता है। उन्होने दिल्ली, लाहौर आगरा आदि स्थानों से अनेक कला साधकों को बुलाकर अपने दरबार में सम्मानित किया। वे चित्रकार मुगल शैली में पारंगत थे, किन्तु बीकानेर में आकर उन्होंने हिन्दू कथाओं तथा हिन्दू अभिप्रायों को आधार बनाकर जो चित्र बनाये, वे हिन्दू मुस्लिम संस्कृति के समन्वित प्रतीक थे। अनेक उस्तादों ने इस सांस्कृतिक समन्वय की साधना में अपना जीवन अर्पित कर दिया, जिनमें उस्ताद रुक्नुद्दीन, हसन अहमद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। मुगल कला के ह्रास एवं औरंगजेब की कलाओं के प्रति कठोर नीति के कारण मुगल दरबार के प्रसिद्ध मुसव्विर, रियासतो मे प्रश्रय पाने लगे। महान् मुगलों के शासन-काल मे जिस नवीन भारतीय संस्कृति का उद्भाव हुआ था, अब इन राज दरबारों में उसी का पुनः समन्वय और विकास होने लगा।

१६ वीं शताब्दी मे अलवर राजा विनयसिंह जी के समय में संस्कृति के साधक इन चित्रकारो को विशेष आश्रय दिया गया। महाराजा ने मुसव्विर गुलाम अली और सुलेखक मिर्जा देहलूवी को दिल्ली से बुलाने के लिए पालकी भेजी थी तथा शहर से बाहर आकर उनका स्वागत किया था। यही कारण है कि गुलिस्तां और गीता जैसे ग्रंथों को इन कलाकारो ने सहृदयता, कलात्मकता एवं समन्वयात्मक शैली मे चित्रित किया। एक ही ग्रंथ के चित्रण मे बीसों हिन्दू मुस्लिम कलाकार भाई-भाई की तरह मिलकर कार्य करते थे। एक कलाकार रेखाकन करता था तो दूसरा रंग भरता था। तीसरा कलाकार सुलेखन का कार्य करता था तो चौथा उस सचित्र ग्रंथ की जिल्दसाजी करता था। इस सामूहिक कार्य में एक उस्ताद के अनेक शिष्य वर्षों तक काम मे लगे रहते थे, जिसमे जाति-पांति का भेद भाव गौण था। विनय सिंह जी के समय में निर्मित गुलिस्तो का

सुलेखन और चित्रांकन १२ वर्षों मे जाकर पूरा हुआ, जिसमें हिन्दू और मुस्लिम कलाकारो ने भाईचारे के साथ कार्य किया। इस ग्रंथ के चित्र उस समय के प्रसिद्ध चित्रकार बलदेव और गुलाम अली ने बनाये तथा सुलेखन आगा मिर्जा देहलवी ने किया। नत्थाशाह दरवेश ने इसकी जिल्दसाजी की। मुसव्विरों और सुलेखकों की यह साझेदारी सांस्कृतिक समन्वय की साधना मे अपनी बेजोड़ छाप छोड़ती है।

राजस्थानी चित्र शैलियो मे ही क्या पहाड़ी चित्रकला मे भी यह समन्वय बहुलता से प्राप्त होता है। पारस्परिक विवाह संबंध, कलाकारों का आदान-प्रदान तथा मुगल शासन के ह्रास के बाद कलाकारों का छोटी-छोटी रियासतों में आजीविका हेतु जाना आदि ऐसे कारण है जिन्होने एक संस्कृति को दूसरी से जोडने मे विशेष सहयोग दिया है।

आधुनिक युग में ओद्योगीकरण एव आवागमन के साधनों के कारण दुनियां का दायरा बहुत सीमित हो गया है। मुद्रण की सुविधाओं एवं विचारो के प्रसारण की व्यवस्थाओ के कारण दुनियां आज आश्चर्य जनक नही रह गयी है। देश विदेशो में जो सास्कृतिक आदान-प्रदान हो रहा है उसमें सबसे पैनी एवं संवेदनशील पकड चित्रकारो की रही है, जिसका प्रमुख कारण उनका सार्वदेशिक और सार्वकालिक अभिव्यक्ति का माध्यम ही रहा है। रग और रेखाओं के माध्यम से वे आज भेद-भाव के अंधेरे बद कमरो को तोड़कर अपनी कला को अन्तर्राष्ट्रीय बोध से जोडते चले जा रहे हैं। इस दौड़ में 'भारतीय चित्रकार भी किसी प्रकार पीछे नही रहे है। आधुनिक भारतीय चित्रकला का इतिहास बहुत पुराना नही है। नवीन बोध की पकड़ तो लगभग स्वतत्रता के बाद ही कलाकारों में आयी है। इससे पूर्व के अधिकतर कलाकार कपनी शैली, बगाल शैली, लोक कलात्मक शैली आदि के माध्यम से भारतीय चित्रकला को एक मच पर लाने का प्रयत्न करते रहे है। इस समन्वय मे छोटी-छोटी रियासतो की विभिन्न शैलिया जो अपनी विशेषताओ के कारण अलग जानी जाती रही है, धीरे-धीरे अपनी भौगोलिक सीमाएँ तोड़कर एक राष्ट्रीय मच पर मिलने के लिए लालायित हुई। राष्ट्रीय भावना की लहर एवं स्वतत्रता के बोध ने भारतीय चित्रकला को भी भौगोलिक सीमाओं से छुटकारा दिलाकर एक स्वच्छंद मच पर ला खड़ा किया और इस प्रकार भौगोलिक सीमाओं के स्थान पर आधुनिक भारतीय चित्रकला ने कला के विभिन्न आन्दोलनो से अपने को जोड़कर चित्रकारो के व्यक्तित्व का निर्माण किया। ठाकुर बन्धुओ के उपरान्त अमृता शेरगिल का व्यक्तित्व इस दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। वे स्वयं समन्वय की साक्षात प्रतीक थी। उनके पिता भारतीय थे और माता हगेरियन शिक्षा-दीक्षा बुड़ा पेस्ट मे हुई और सन् ३४ मे भारत आकर वे कला की साधना में लग गयी। खेद कि असमय मे ही उनकी मृत्यु (१९४१) हो गयी और उनकी साधना अधूरी ही रह गयी, किन्तु इस थोड़े समय में वे पाश्चात्य शैली के समन्वय से भारतीयता की खोज रग और रेखाओं में करती रही। सन् ४७ के बाद जो कला-

कार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उभरकर आये उनमें सर्व श्री एम० एफ० हुसैन, वेन्द्रे, जॉर्ज कीट, रौरिक, हैवूवर, रज़ा, सतीश गुजराल, रामकुमार, कृष्ण खन्ना, स्वामिनाथन, तैयब मेहता, लक्ष्मण पै आदि नये पुराने कलाकारों के नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने भारतीय चित्रकला की मूलभूत विशेषताओं को कायम रखते हुए उसे बहुत कम समय में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुंचा दिया है। अजन्ता से लेकर मैक्सीको तक की संस्कृति को समन्वयात्मक रूप प्रदान करने का श्रेय इन कलाकारों को है। सिंहली कलाकार जॉर्ज कीट ने भारतीय पौराणिक कथाओं को कम से कम प्रभावशाली रेखाओं एवं तबई रंग में नया रूप दिया तथा एम० एफ० हुसैन ने राग रागिनी, रामायण, राजस्थान की जन जाति मीणा, भील आदि का चित्रण कर अपनी सहृदयता का परिचय दिया। रौरिक विदेशी होते हुए भी हिमालय और उसकी संस्कृति के जादू से इतने प्रभवित हैं कि उनके रहस्यमय चित्रों में उनकीसमन्वयात्मक प्रतिभा देखते ही बनती है। कहीं सतीश गुजराल भारतीय लोक संस्कृति और मेक्सीकन लोक संस्कृति में समन्वयात्मक सूत्र खोज रहे है तो कहीं रसिक रावल और लक्ष्मण पै अफ्रीकन लोककला और भारतीय आदिवासी कला में तारतम्य जोड़ने में लगे हुए हैं। मछुवाहों की जिन्दगी को नजदीक से परखने वाले अप्पा भाई अबदुलरहीम अलमेलकर ने गुजरात के तटवर्ती मछुवाह को इण्डोनेशिया के समुद्र तट तक जोड़ दिया है। भारतीय कलाकारों में ऐसे कितने ही कलाकार है जो रह भारत में रहे है और उनकी कला यूरोप की कला नगरी पेरिस से जुड़ी हुई है।

वास्तव में तो कलाकार की कोई जाति-पाति नहीं होती। वह जाति-पाति और धर्माड़म्बरों से ऊपर होता है। कला उसका जीवन है। कलाकार ही उसकी जाति है। वह देश की सीमाओं को तोड़कर सांस्कृतिक समन्वय के लिए जुझारू साधना में तल्लीन रहता है।

□

ध्रुवपद धम्मार रंग, डागर बन्धुओं के संग

१६ अगस्त सन् १६५४ की बात, भूतपूर्व सूचना एवं प्रसार मंत्री डॉ० केसकर की बैठक मे मोईनुद्दीन खा डागर एवं अमीनुद्दीन खा डागर का राग दरबारी में ध्रुव पद गायन सभी श्रोताओ को मंत्रमुग्ध किये हुए था, मैं और मेरे मित्र डा० रमेश आर्य भी भाइयो की बगल में बैठकर ध्रुवपद का आनन्द ले रहे थे, डागर बन्धुओ ने विस्तृत आलाप और अन्त मे पद गायन से राग की समाप्ति की, सभी श्रोता वाह-वाह कर उठे और डा० केसकर भाव विहल होकर कह उठे कि "भाई ऐसा गायन मैंने बहुत दिनो बाद सुना है,"

दूसरी सभा अलवर में स्वर्गीय डॉ० जे० एन० शर्मा द्वारा श्रुति-मंडल के तत्वावधान मे आयोजित सन् १६७५ मे छोटे डागर भाइयों अर्थात उस्ताद जहीरूद्दीन खा डागर द्वारा लगातार तीन घन्टे तक ध्रुव पद राग का विस्तार, वे स्वय आत्मविभोर हो उठे "ऐसा गाना हम बहुत कम गा पाते है. यह हमारे दादा अलाबन्दे खा साहब एव चर्चा तानसेन जी की पवित्र भूमि है, इसीलिए शायद यहां राग स्वयं साकार हो उठा।"

भारतीय संगीत की प्राचीन पद्धति ध्रुव पद जो ख्याल, ठुमरी, गजल और हल्के-फुल्के संगीत युग मे भी अपनी ज्योति जलाए हुए है। जिसको समझने वाले बहुत कम हैं तथा जिसको जीवित रखने वाले भी बिरले ही गायक है। आखिर ध्रुव पद मे ऐसा क्या जादू है जो डागर बन्धुओ का परिवार इस शास्त्रीय परम्परा को बचाने मे लगा हुआ है तथा विदेशो में विशेषत. जर्मनी, फ्रास, इटली आदि देशो में संगीत प्रेमी ध्रुव-पद गायकी पर न्योछावर हैं ?

ध्रुव पद सामवेद की ऋचाओ से निकली हुई शास्त्रीय सगीत की सर्वाधिक प्राचीन शैली है, जो आज भी जीवित है। ध्रुव पद माने अटलपद जिसमे स्थायित्व और बेजोड संतुलन है। राग, रस और काव्य का समन्वित स्वरूप ध्रुव पद की विशेषता है। मध्यकाल मे भक्ति सगीत के लिए ही ध्रुव पदो का उपयोग किया जाता था। १६ वी-१७ वी शतो मे भक्ति कालीन पद ध्रुव पद शैली में ही मंदिरो मे गाये जाते थे। संस्कृत, ब्रज, अवधी आदि भाषाओं में कवियों द्वारा ही ध्रुव पद नहीं रचे गए, वरन् संगीतकारो ने भी ध्रुव पदो की रचना की। स्वामी हरिदास, सूरदास जैसे भक्त

कवियो के ध्रुव पद तो प्रसिद्ध है ही पर तानसेन, बीजूनायक, सदारंग, अदारंग, जैसे संगीतकारो के ध्रुव पद भी कम महत्व के नही है। काव्य और संगीत का बेजोड़ संबंध तथा अन्तर अनुशासन ध्रुव पद गायकी में विशेष उल्लेखनीय है।

ध्रुव पद का उद्‌भव और विकास भारतीय संस्कृति की प्राचीनतम दाय है। आज यह दो भागो में गाया जाता है। आलाप और ध्रुव पद-धम्मार। आलाप मे धीरे-धीरे नोम-तोम के अनाम स्वरों मे राग के रहस्य को बड़ी बारीकी और गहराई से खोलने का प्रयत्न होता है। आलाप काल मे राग के मूड़ को स्थापित करना है। विलम्बित और द्रुत मे अलाप की शुद्धता तथा सुनिश्चितता का विशेष ध्यान रहता है। वास्तव मे तो यह राग का तैयारी अग है। एक घन्टे के ध्रुव पद गायन मे पैंतालीस मिनट अलाप के लिए निश्चित होता है जो इसके महत्व को स्पष्ट करता है।

राग का दूसरा भाग पद गायन होता है। काव्य और संगीत का जोड पखावज की ताल पर एकाकार हो उठता है। विलम्बत और फिर द्रुत मे राग का समापन राग की ऊँचाईयो पर पहुँचा देता है। अधिकतर ध्रुव पद देवी देवताओं के चरित्र गायन से सबधित होते है। ध्रुव पद जहाँ भक्ति भावना का प्रतीक है तो धम्मार शृंगारी भावों से युक्त होता है। कृष्ण और गोपियों की रास लीला तथा रंगों से होली खेलने के पद धम्मार मे गाए जाते हैं। धम्मार का सम्बन्ध ही होली के रगीले त्यौहार से है।

ध्रुव पद भारतीय सगीत की अनुपम विधा है। इसको आज तक जीवित रखने का श्रेय डागर परिवार को जितना है, उतना शायद अन्य किसी को नहीं। स्वर्गीय नासिर मोईनुद्दीन खां एवं नासिर अमीनुद्दीन खा डागर की जुगल बंदी ने सन् १९४० से लेकर १९६५ तक देश और विदेश मे धूम मचा दी तथा बड़े भाई के स्वर्गवास के उपरान्त अमीनुद्दीन खां साहब बिडला स्वर सगम कलकत्ता के आचार्य पद पर आसीन होकर ध्रुव पद की साख बनाए हुए है।

छोटे दो भाई जहीरुद्दीन खा साहब और फयाजउद्दीन खा साहब ने जुगल बदी के रूप मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। देश और विदेश में उनका ध्रुवपद गायन बडे चाव और गम्भीरता से सुना जाता है, डागर भाइयो के चचेरे भाइयों फईमुद्दीन, जियमोईनुद्दीन सदीउद्दीन, आदि द्वारा भी बीनकारी और गायन द्वारा परिपोषित है। हल्के, फुल्के गायन एवं पाश्चात्य सगीत की आपाधापी में लगभग पूरा परिवार आज भी ध्रुवपद धम्मार की शुद्ध गरिमा बनाए रखने के लिए बेचैन है।

यह बेचैनी कोई नई बात नही है, अकबर जैसे महान संगीत प्रेमी के दरबार में तानसेन जैसे ध्रुवपद गायक रहे, सीकरी से काम न रखने वाले हरिदास जैसे भक्त गायको ने स्वान्त: सुखाय संगीत की रसधार बहाई, श्रीनाथ जी के स्वरूप की अष्टयामी सेवा पूजा में ६ राग छत्तीस रागनियों मे सूरदास जैसे भक्त कवि ने जी भरकर ध्रुवपद गायन किया। मध्यकाल में पूरेउत्तर भारत मे ध्रुवपद गायकी महलों से लेकर मन्दिरों

ती रही, पर मुगल सल्तनत के पतन एवं खयाल गायकी के
तक मे गायी जा की गम्भीरता को ठेस पहुंचायी।
ध्रुवपद गायकी ा है कि १८ वी शती में गोपाल दास डागर ने इन्दौर राज घराने
कहा जा को जीवित रखा। गोपालदास डागर के पूर्वज मंगल पाण्डेय
ध्रुवपद गायकी लीन प्रसिद्ध ध्रुव पद गायक थे। बाबा गोपाल दास, बादशाह
मुगलो के समक समकालीन थे। वे धर्म परिवर्तन कर मुसलमान हो गये और इमाम
शाह रंगीला के गये। वास्तव में उनके पुत्र बहराम खां ने डागर घराने की
के नाम से जाने की। मुगल दरबार छोड़ कर वे जयपुर राज्य के गुणीजन
की जड़े मजबूत यपुर और जयपुर में इनके घराने स्थायी रूप से स्थापित हो गये
जुड गये। उ गुणीजन खानों में प्रसिद्ध गायक जुड़ते चले गये।
राज घरानो के ा साहब के पौत्र अलाबन्दे खां साहब हिन्दुस्तान के मशहूर ध्रुव
बहराम महाराजा जयसिंह जी ने उन्हें अपने दरबार के गुणीजनों में
थे। अलवर दशहरा, होली के दरबार में जब कभी उनका गाना होता था
स्थान दिया। गंभीर धारा प्रवाहित हो जाती थी। उनके बड़े भाई जाकिरुद्दीन
शान्तरस की पद गायकी की बड़ी सेवा की। उन्होंने अपने परिवार में लगभग दो दर्जन
साहब ने ध्रुव वादक तैयार किये। उनके पुत्र जियाउद्दीन खां साहब अपने समय के
ध्रुव पद गायक कार थे, उन्होंने छोटे डागर भाइयो को ध्रुव पद की उत्कृष्ट शिक्षा
सर्वश्रेष्ठ बीन
दी। न्दे खां साहब के चारों ही पुत्र क्रमशः नासिरुद्दीन खां, रहीमुद्दीन खां
अल्ला व एवं हसनुद्दीन खां साहब अपने समय के श्रेष्ठ ध्रुव धम्मार गायक रहे।
इमामुद्दीन खा साहब की धम्मार गायकी, का सन् ५५ मे सुनने का सौभाग्य मुझे भी
रहीमुद्दीन खा
प्राप्त हुआ। दे खां साहब के जब सबसे पहला पौत्र हुआ तो जन्म के छटे दिन
अल्लाबन्द संगीत कारो की तीन दिन तक महफिल जमी। बड़े भैया
भारत के प्रसि का संगीत की महफिल में स्वागत किया गया। अल्ला बन्दे खां
द्दीन खा साह न खा साहब के चार पुत्र क्रमशः मोइन, अमीन, जहीर और
के पुत्र नसीरु जिस ऊंचाईयों पर पहुंचाया है, वह आज किसी से छिपा
ध्रुव पद लगन, लगातार रियाज का श्रम और कठिन से
पारिवारिक घराने की गायकी की शुद्धता को बनाये रखने का श्रेय डागर
मे भी
को है। के उपरान्त देशी रियासतों के खत्म
स्वतं शास्त्रीय संगीत के लिए कठिनाई के
हो गये और

ज्योति को अक्षुण्ण रखा,
डागर भाइयों ने आर्थिक कठिनाइयां झेलकर ध्रुव पद की न बंदी की धाक पूरे भारत
वास्तव में तो सन् ४० से लेकर ६५ तक बड़े भाइयों की जुग र्यक्रम उन्होंने सन् १९४२
और अंतिम दिनों में विदेशों में जमी रही। सबसे पहला क मशहूर महफिलों, संगीत
में आकाशवाणी से प्रस्तुत किया और उसके बाद से तो रत की ओर से 'ईस्ट वेस्ट
सभाओं में ध्रुवपद की साख जमायी। वे सन् ६१ में भा त के अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान
म्यूजिक एनकाउन्टर' में टोकियो गये तथा सन् १९६४ में संगी न सभाओं में भाग लिया
बर्लिन द्वारा बुलाए गए। योरप में उन्होंने लगभग ३० संगी क जमा कर यश अर्जित
और भारत की शुद्ध गायकी ध्रुवपद की आश्चर्यजनक धा बनायी गयी, जिसे योरप
किया। अढाई घन्टे की ध्रुव गायकी पद पर फ्रांस में एक फिल्म वे प्रथम किसी भारतीय
भर में टी० वी० पर बड़े चाव से देखा गया। यूनेस्को ने यूनेस्को की ओर से उनका
कलाकार को सम्मान दिया तो वे बड़े डागर भाई ही थे।
एल० पी० रेकार्ड प्रसारित किया गया।

कम्पनी ने डागर भाइयों

यह देश का दुर्भाग्य ही रहा कि एच० एम० वी० रेकार्ड प्राप्त कर आये तो कंपनी
को पहले कभी महत्व नहीं दिया। जब वे विदेश में सफलता होने उन्हें फटकार दिया।
उनके तलवे चाटने लगी, पर बड़े भैया स्वाभिमानी थे। उन्होंने को राजी हुए। सन्
छोटे भाई तथा पत्नी सुरैया बेगम के मनाने पर वे रेकार्ड क र वे इस ससार से विदा हो
६६ में ४७ वर्ष की उम्र में ही बड़े भाई नसीरुद्दीन खां मा मे वे अपना अमर स्थान
गये। भाइयों की जुगल बंदी टूट गयी पर ध्रुव पद गायकी ा का ऐसा सम्मिश्रण था
बना गये। उनकी आवाज में गंभीरता, सरसता और कोमल होते थे। आलाप उनका
कि स्वर की साधना में सच्चा अनुशासन रखने में वे समर्थ ो जाती थी कि बीनकारी
महत्वपूर्ण अंग था, स्वरों में उनकी आवाज ऐसी एकाकार हो थे। मेरुखण्ड की दस
का सा आनन्द आने लगता था। मेरुखण्ड आलाप के वे गुण उनकी गायकी के बेजोड़
विशेषताओं में वे पारंगत थे पर लहक, गमक और हुदक तो हो जाती थी।
अंग थे। दोनों भाई जब मिलकर गाते थे तो रागिनी साकार

टे डागर भाइयो ने जिस

ध्रुवपद में डागर घराने की इस जुगल बंदी को भारतीय शास्त्रीय संगीत में
शुद्धता सरसता और खूबी के साथ अपनाया है वह भी घराने की गायकी के प्रति
अपना बेजोड़ स्थान बना चुकी है। लगन, मेहनत और व फय्याजउद्दीन खां डागर
अगाध प्रेम ने आज उस्ताद जहीरुद्दीन खां डागर और उस्ताद ा की ख्याति प्राप्त संगीत
को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का कलाकार बना दिया है। वे दो ध्रुवपद धम्मार गायकी
सभाओं आकाशवाणी के राष्ट्रीय कार्यक्रमों में समय-समय पर लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, इटली,
को प्रसारित कर चुके हैं। विदेशों में आस्ट्रीया, बेल्जियम, हॉ राजदूत बनकर ख्याति प्राप्त
यू० के, नेपाल, अफगानिस्तान आदि देशों में भारतीय संगीत वार सहित एक वर्ष के लिए
कर चुके हैं। हाल ही में पश्चिमी जर्मनी सरकार ने उन्हें परि

ध्रुव पद के प्रचार और प्रसार के लिए सादर आमंत्रित किया है। यह देश के लिए सबसे बड़े सम्मान की बात है।

छ वर्ष की उम्र मे ही डागर भाइयो ने बड़े भाइयो की देखरेख मे रियाज करना प्रारम्भ कर दिया। अपने चाचाओं के सानिध्य में रह कर उन्होंने ध्रुवपद की बारीकियों को समझा, परखा। अलाप के अनुशासन तथा लय की गरिमा पर उन्होंने लगातार रियाज से अधिकार प्राप्त किया। ध्रुवपद-धम्मार गायकी के वे आज सर्वाधिक अधिकारी गायक हैं। उनके गायन में शान्त, निर्द्वंद्व और ध्यानावस्था की गंभीरता श्रोता को बांध लेती है। उनके अलाप की निरन्तरता, मुक्तता, भव्यता और बीनकारी का गुथाव एक अलौकिक ससार में ले जाकर छोड़ता है। दोनों भाई जुगल बंदी बिना किसी प्रतिद्वन्द्वता के पारस्परिक सहयोग द्वारा राग की अवधारणा करते हैं, फिर भी उनकी अलग-अलग विशिष्ट शैली बनी रहती है। भारतीय संगीत में डागर भाइयों का इसलिए अद्वितीय और अपूर्व स्थान है।

पर आज भी हमारे देश मे ध्रुवपद जैसी शुद्ध और पारम्परिक शास्त्रीय गायकी के लिए वह स्थान नही है, जो होना चाहिये। गुरू, गभीर एव क्लिष्ट गायकी के कारण सहज ही गायक ध्रुवपद गायकी की ओर लालायित नही होता। श्रोता भी सरल भावपूर्ण और हल्की-फुल्की गायकी में अधिक रस लेने लगा है। खयाल, ठुमरी, दादरा, गजल जैसी सरल शास्त्रीय सगीत पद्धतियो का ही नही आज तो सरल सगीत तथा पाश्चात्य सगीत की चीच धुनों का बोलबाला है। ऐसे वातावरण में पूरे देश मे कुछेक ही घराने अवशेष है, जो ध्रुवपद की शुद्धता को बनाए हुए है। उनमे भी डागर घराने का स्थान सर्वोपरि है।

डागर वाणी की यह ध्रुवपद परम्परा मध्यकाल से आज तक अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाए हुए है। गोपाल दास डागर से लेकर छोटे डागर बन्धुओ तक की इस कडी मे सत्रह पीढ़िया अपना अपूर्ण योगदान दे चुकी हैं। देखना है कि आज के इस आपा-धापी और भागदौड के युग में तथा सस्ते मनोरजक हाईफाई मिडिया की चकाचौंध मे डागर घराने की शुद्ध ध्रुवपद-धम्मार गायकी को हमारे देश मे कितना आदर मिलता है।

☐

अन्तर अनुशासी कलाओं की शोध समस्याएँ

पिछले दशक से कलाओं के पारस्परिक संबधो को आधार बनाकर भी शोध कार्य होने लगे हैं, किन्तु अपनी सीमाओं में अनेक प्रकार की शोध समस्याओ तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण इस प्रकार के कार्य को विश्वविद्यालयी शोध-जगत मे अधिक बढावा नहीं मिला है; यह चिन्ता का विषय है।

साहित्य, सगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला जैसी ललित कलाओं के पारस्परिक संबंधो तथा एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन करने से अन्तर अनुशासन का ही रहस्य नही खुलता; वरन् विस्तृत और गहन अध्ययन के लिए इस प्रकार का शोध कार्य अत्यावश्यक भी है। सपूर्ण मध्यकालीन साहित्य, सगीत, चित्रकला आदि को बिना एक दूसरे के सहयोग मे समझना एक अधूरी समझ का परिचायक है और इस प्रकार मध्यकालीन साहित्य और कला पर किये गये शोध कार्यो के अध्ययन की एकाँगी दृष्टि पर अवश्य ही प्रश्न चिन्ह उभर कर आता है।

यह कहना असगत न होगा कि मध्यकालीन साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि का अध्ययन उनके पारस्परिक संबंधो को टटोले बिना अपरिपक्व और अधूरा ही रहेगा, क्योंकि उस समय धार्मिक स्थल तथा सामतो गुणीजन खाने कलात्मक प्रवृत्तियो के केन्द्र बिन्दु थे, जिनके चारों और उपर्युक्त कलाएं सिमटी हुयी थी और एक दूसरे की पूरक थी। धार्मिक केन्द्रो तथा सामंती दरबारो ने कलात्मक प्रवृत्तियों का जो पोषण और समन्वय किया है उसे शोध के क्षेत्र मे अनदेखा नही किया जा सकता। कवि जो कुछ लिखता था चित्रकार उसे चित्रांकित करता था, संगीत कार उसे गाता था, मूर्तिकार उन भावो को अपनी छैनी और हथौडी से मूर्ति शिल्प मे अभिव्यक्ति करता था। वस्तुकार ईंट और पत्थरों के माध्यम से साकार कविता की सृष्टि करता था। यही नहीं वरन् अन्य कलाओ से कवि प्रभावित होकर शब्द चित्रों का निर्माण करता था। माध्यम की भिन्नता होते हुए भी कलाओ की आत्मा एक है। काव्य बोलता हुआ चित्र है और चित्र मूक काव्य। प्रकृत कवि चित्रमय भाषा का प्रयोग करता है। भाषा और छन्द के विधायक तत्व अक्षर अथवा छदं स्वयं भावमय चित्र हैं। अत: कविता वह वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। इसलिए कलाओं का संबंध अक्षुण्ण है। वे एक दूसरे की प्रेरक और सहायक ही नही वरन् पूरक भी हैं। कुमार स्वामी के अनुसार भारतीय चित्रकला साहित्य की प्रतीक है। भारत मे साहित्य ने कला का

रूप समृद्ध किया और कला ने साहित्य की व्याख्या की। इनकी गहनतम पारस्परिकता अनुपेक्षणीय है। भारतीय कला एक प्रकार से साहित्य की ही मार्मिक व्याख्या है। कला के मार्मिक ज्ञान के बिना साहित्यिक अध्ययन अधूरा है और साहित्य की सूक्ष्म जानकारी के बिना अन्य कलाओं का शोध कार्य संकुचित रह जाता है। अतः अन्तर अनुशासी कलाओ के पारस्परिक सबधो का अध्ययन अत्यावश्यक है। मध्यकाल पर कार्य करने वाले शोधार्थी और कार्य कराने वाले शोध-निदेशकों की पैठ दैनिक कलाओं की सामान्य जानकारी के सवंध मे अवश्य ही होनी चाहिए, अन्यथा मध्यकाल पर जो भी शोध कार्य कराया जावेगा वह एकांगी और अधूरा होगा इसमे दो राय नही हो सकती।

अन्तर अनुशासी कलाओ के पारस्परिक सबधों को आधार बनाबर अब तक जो भी कार्य हुए है वे अपनी प्रारम्भिक अवस्था के ही परिचायक है। काव्य और संगीत, काव्य और चित्रकला, मूर्तिकला और भारतीम नृत्य, साहित्य और स्थापत्य आदि विषयो पर कुछ शोध कार्य प्रकाश मे आये हैं। अधिकतर कार्य अपनी प्रकाशन असमर्थता के कारण अभी तक अप्रकाशित ही पडे हुए हैं। वास्तव मे अन्तर अनुशासी कलाओं की कुछेक ऐसी शोध-समस्याएँ हैं, जिन पर विचार करना अनुचित नही होगा।

सर्वप्रथम समस्या है विषय की अनभिज्ञता। विश्वविद्यालयो में अन्तर अनुशासी कलाओ के विभागों मे कोई समन्वय नही है। अपने-अपने कठघरे मे सब ताकते है और घेरे से बाहर कोई नही जाना चाहता। आश्चर्य तब होता है जब मध्यकाल के विशिष्ट आचार्य शास्त्रीय संगीत से नाक-भौ सिकोडते है और राजस्थानी तथा पहाडी चित्रकला के बारे मे उनकी प्राथमिक जानकारी भी नही होती। ऐसी स्थिति मे जो शोधार्थी कलाओ के पारस्परिक सवधो और प्रभावों का अध्ययन करना भी चाहता है तो न उसे उचित निर्देशन मिल पाता है और न ही मौलिक कार्य करने की अनुमति मिल पाती है।

इस पर भी हठधर्मिता के कारण यदि शोधार्थी का विषय मजूर हो जाता है तो दूसरी कठिनाई आती है कार्य पद्धति की। साहित्य वाला सगीताचार्य को अछूत मानता है और चित्रकला का आचार्य साहित्यकार की घुसपैठ को अनाधिकार चेष्टा. कहकर टालता है। इसलिए पारस्परिक सहयोग और तारतम्य के अभाव मे ऐसा कार्य शोधार्थी के लिए बोझ बन जाता है। आदरणीय रायकृष्णदास, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कुमार गन्धर्व, भीमसेन जोशी, बेन्द्रे, एम० एफ० हुसैन, स्वर्गीय डॉ० मोती चन्द्र और रामगोपाल विजयवर्गीय जैसे बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्तित्वों को इस क्षेत्र मे अपवाद ही कहा जा सकता है।

तीसरी प्रमुख कठिनाई आती है सुविधाओ का अभाव। अन्तर अनुशासी कलाओं पर कार्यकरना तब और भी कठिन हो जाता है जब शोधार्थी को आर्थिक अभाव के

आदि ग्रंथों का चित्रण मैनुस्क्रिप्ट तथा मिनियचर्स के रूप में देशी विदेशी संग्रहालयों में बिखरा पड़ा है। बारह मासा, नायिका भेद, राग रागिनी जैसे विषय उपर्युक्त चित्रों में साकार हो उठे है। तत्कालीन समाज, संस्कृति, कला स्थापत्य, वेशभूषा, प्रकृति परिवेश, सामंती रहन-सहन और सोच विचार आदि का सूक्ष्म अध्ययन इन चित्रों के माध्यम से किया जा सकता है। विभाग को चाहिये कि उपर्युक्त सचित्र ग्रंथों एवं लघु चित्रों की रंगीन पारदर्शियों का संग्रह करे और अन्य सुविधाएं भी जुटाये। विभाग की भीड़-भाड़ में एक दो ऐसे भी अध्यापक हों जिन्होंने इस प्रसार के अन्तर अनुशासी कलात्मक विषयों में कार्य करने की पहल की है। शोध जगत में संकीर्णता को त्याग कर आज पारस्परिक संवाद करने की परम आवश्यकता है और यह कार्य कलाओं के अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन से अवश्य हो सकता है ऐसी मेरी धारणा है।

□